...के उद्देश्य

...षा का संरक्षण तथा प्रसार।
...र्गों का विवेचन।
...कृति का अनुसंधान।
..., विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

संपादक-मंडल

केशवप्रसाद मिश्र — वासुदेवशरण अग्रवाल
पद्मनारायण आचार्य — कृष्णानंद (संपादक)

सूचना

"सब श्रेणी के सभासदों को उनके सभासद होने के वर्षारंभ से सभा की मुखपत्रिका बिना मूल्य दी जायगी। ये सभासद पत्रिका के पुराने अंक और सभा द्वारा प्रकाशित अन्य पत्रिका तथा पुस्तकों की एक एक प्रति ३/४ मूल्य पर ले सकते हैं। परंतु प्रबंधसमिति को अधिकार होगा कि साधारण सभा की अनुमति से किसी विशेष पुस्तक को इस नियम के बाहर रखे।"

(ना० प्र० सभा का नियम सं० २१)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४६-अंक २ [नवीन संस्करण] श्रावण १९९८

ईरानी सम्राट् दारा का शूषा से मिला हुआ शिलालेख

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

ईरान और उसके पश्चिम में फैला हुआ विशाल भू-प्रदेश संसार की पुरातन सभ्यताओं के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। यह किसी समय आर्य-जाति का लीला-क्षेत्र रहा है और काल के चढ़ाव-उतार से आर्यों की प्रतिद्वंद्वी असुर जाति ने भी इसी प्रदेश में अपनी सभ्यता का विकास किया। इस लंबे इतिहास की कथा मानवी दृष्टि से जितनी रोचक है, भारतीय दृष्टि से हमारे प्राचीन इतिहास के उद्घाटन के लिये उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय इतिहास की गौरव-गाथा के अनेक पृष्ठ पश्चिमी एशिया में प्रकट हुए। प्राचीन शिलालेखों की दृष्टि से तिग्रा (दजला, Tigris) और उफ्रातु (फरात, Euphrates) की अंतर्वेदी एक कामधेनु है। यह परम आवश्यक है कि भारतीय इतिहास के विद्वान् इस प्राचीन सामग्री का मौलिक अध्ययन करके अपने इतिहास से संबंधित विषयों को ग्रहण करें।

इन शिलालेखों में ईरानी सम्राट् दारयवउ (दारा, Darius) के लेख सबसे महत्त्व के हैं। दारयवउ हखामनि (Achaemenian) वंश के सबसे प्रतापी सम्राट् थे। इस वंश के राजाओं की तालिका इस प्रकार है—

१—कुरुष् (Cyrus) ई० पू० ५५८—५२८।
२—कंबुजिय (Cambyses) ई० पू० ५२८—५२१।
३—बर्दिय (Smerdis) ई० पू० ५२१।
४—दारयवउ प्रथम (दारा, Darius) ई० पू० ५२१—४८५।
५—खषयार्ष प्रथम (Xerxes) ई० पू० ४८५—४६५।
६—अर्तखषश प्रथम (Artaxerxes) ई० पू० ४६५—४२५।
७—खषयार्ष द्वितीय (Xerxes) " " ४२५—४२४।
८—दारयवउ द्वितीय (दारा, Darius) " " ४२४—४०४।
९—अर्तखषश द्वितीय (Artaxerxes) " " ४०४—३५९।
१०—अर्तखषश तृतीय (Artaxerxes) " " ३५९—३३८।
११—अर्ष (Arses) " " ३३८—३३६।
१२—दारयवउ तृतीय (Darius) " " ३३६—३३०।

इस प्रकार महाप्रतापी कुरुष् के द्वारा, जिसकी तुलना महाराज अशोक से की जाती है, जिस राज्य की स्थापना हुई वह दो शताब्दियों से ऊपर अपने वैभव का विस्तार करके यूनानी विजेता सिकंदर के हाथों नष्ट हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से दारयवउ प्रथम के तीन लेख प्रसिद्ध हैं :—

(१) ईरान के नगर किर्मनशाह के पूर्व में स्थित बहिस्तून (Behistun) पहाड़ी का लेख। इसमें दारयवउ सम्राट् ने अपनी दिग्विजय की गौरवपूर्ण कहानी तीन भाषाओं और तीन लिपियों में खुदवाई थी। बहिस्तून या बीसितून का प्राचीन नाम 'बगिस्तन' (संस्कृत भगस्थान)*

---

* अँगरेजी Behistun अथवा Bahistun नाम प्रसिद्ध हो गया है। पर फारस में इसका उच्चारण बीसितून या बीसुतून है जो पहाड़ी के नीचे उससे सटा हुआ एक छोटा सा गाँव है। इसका प्राचीन नाम डिओडोरस (ई० पू० ४४) की पुस्तक में बगिस्तन मिलता है जो बगस्तन (संस्कृत भगस्थान; ईरानी भग = देव) का रूप है।

अर्थात् देवों का स्थान था। इस चट्टान के पास से एक मार्ग जाता था जो प्राचीन 'बाबिरु' (बबेरु, Babylon) और 'हगमतान' (Ecbatana, modern Hamadan) आधुनिक हमदान को मिलाता था। इसी राजमार्ग पर दारयवउ का यह लेख और उसकी प्रतिमा लगभग ढाई सहस्र वर्ष बाद आज भी सुरक्षित हैं। यह लेख "The Inscription of Darius, the Great at Behistun" नामक पुस्तक में, जो ब्रिटिश म्यूजियम से प्रकाशित हुई है, तीनों भाषाओं में बड़े सुंदर ढंग से संपादित हुआ है।

(२) दूसरा नक्शे-रुस्तम पहाड़ी का लेख है। यह प्राचीन पर्सिपोलिस (Persepolis) नगर के उत्तर में हुसैन कोह नामक पहाड़ में खुदी हुई गुफा के द्वार पर है, जहाँ कि सम्राट् दारयवउ की समाधि बनी हुई है। इस बड़े लेख में सम्राट् की दिग्विजय का वर्णन एवं जीते हुए देशों की नामावली है।

(३) शूषा के राजमहल से संबंध रखनेवाले लेख। शूषा प्राचीन इलम (Elam) देश की राजधानी थी। यहाँ ईरानी सम्राटों ने अपने रहने के लिये बहुत ही सुंदर भव्य प्रासाद बनवाए थे। शूषा के सबसे प्रसिद्ध लेख का संबंध दारयवउ प्रथम के राजप्रासाद से है। इसे पाश्चात्य लेखकों ने Magna Charta of Susa or Charter of Foundation अर्थात् शूषा का प्रधान लेख अथवा शूषा के राजमहल का शिलान्यास-पत्र कहा है। इस लेख में उस समस्त सामग्री का वर्णन है जो प्रासाद-निर्माण के लिये विशाल ईरानी साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रदेशों अथवा उसके बाहर के देशों से मँगवाई गई थी। यही इसकी विशेषता है। मूल लेख मिट्टी के फलकों पर कीलाक्षर लिपि (Cuneiform characters) में खुदा हुआ है। पूरा लेख ईंटों के कई टुकड़ों को जोड़कर इकट्ठा किया गया है और उसके खोए हुए अंशों को विद्वानों ने बड़े परिश्रम से पूरा किया है। यह लेख तीन भाषाओं में मिला है, अर्थात प्राचीन ईरानी भाषा, शूषा या इलम की भाषा (Elamite language) और अक्कदी भाषा (Accadian language)। इनमें से प्राचीन

ईरानी भाषा का लेख संस्कृत के सबसे अधिक सन्निकट है। पारसी विद्वान् जे० एम० ऊनवाला ने "The Ancient Persian Inscriptions of the Achaemenides found at Susa" पुस्तक में १९२९ में इन लेखों का अँगरेजी अनुवाद सहित संपादन किया। अमरीका की प्राच्य परिषद् के त्रैमासिक पत्र में पैंसिलवेनिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आर० जी० केंट ने भी मूल लेख को अँगरेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।* अभी हाल ही में कलकत्ता विश्वविद्यालय के डा० सुकुमार सेन ने हखामनि वंश के सम्राटों के समस्त लेख एकत्र पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिए हैं। प्रूफ देखते समय हम इस पुस्तक का उपयोग कर सके।†

मूल लेख

जैसा कि विभिन्न टुकड़ों के तुलनात्मक अध्ययन से पूरा किया गया है :—

१—बग वज़र्क अउरमज़्दा ह्य इमाम् बूमिं अ-	१—बुज़ुर्ग देव अहुर मज़्दा [है] जिसने इस भूमि को बनाया,
२—दा ह्य अवम् अस्मानम् अदा ह्य मर्तियम् अदा	२—जिसने उस आसमान को बनाया, जिसने मनुष्य को बनाया,
३—ह्य षियातिम् अदा मर्तियह्या ह्य दार-	३—जिसने मनुष्य के लिये स्वस्ति भाव बनाया, जिसने
४—यवउम् ख्षायथियम् अकुन-उष् ऐवम् परूनाम् ख्षायथि-	४—दारयवउ को राजा बनाया, एक राजा अनेकों का,

---

* Journal of the American Oriental Society, Vol. 51, 1931, The recently published old Persian inscriptions, pp. 189-240, by R. G. Kent.

† Dr. Sukumar Sen: Old Persian Inscriptions (Calcutta University), pp. 1-290. इस पुस्तक में मूल लेख प्राचीन ईरानी भाषा में, फिर संस्कृत छाया और अँगरेजी अनुवाद तथा टिप्पणियाँ दी गई हैं।

५—यम् ऐवं परूनाम् फ्रमातारम् अदम् दार-	५—एक विधाता अनेकों का। मैं दारयवउ-
६—यवउष् ख्षायथिय वज्रर्क ख्षायथिय ख्षायथियानाम् ख्षायथिय दह्यूनाम् ख्षायथिय-	६—राजा बुजुर्ग, राजा राजाओं का, राजा देशों का, राजा
७—अह्याया बूमिया विष्तास्प ह्या पुष् हख़ाम-	७—इस भूमि का, विष्तास्प का पुत्र जो हखामनि वंश का था।
८—निषिय। थातिय दारयव-उष् ख्षायथिय अउर मज्दा-	८—राजा दारयवउष् कहते हैं—अहुरमज्दा
९—ह्य मथिष्त बगानाम् हउव् माम् अदा ह-	९—जो देवों में महान् है, उसने मुझे उत्पन्न किया, उस
१०—उव् माम् ख्षाथियम् अकुन-उष् ह उव मइय् इम ख्ष-	१०—ने मुझे राजा बनाया, उसने मुझे इस राज्य
११—शम् फ्राबर त्य वज्रर्कम् त्य उवस्पम् उम-	११—को प्रदान किया, बड़े (राज्य) को, सुंदर अश्व और
१२—र्तियम् वष्ना अउर मज्दा ह ह्य मना पिता-	१२—मनुष्यों से युक्त को अहुर मज्दा की कृपा से जो मेरा पिता
१३—विष्तास्प उता अर्षाम ह्य मना नियाक	१३—विष्तास्प और जो मेरा पितामह अर्षाम
१४—अवथा उबा अजीवतम् यदिय अउर मज्दा मा-	१४—था, तब दोनों जीते थे, जब अहुरमज्दा ने मुझ-
१५—म् ख्षायथियम् अकुनउष् अह्याया बूमिआ अउर मज्द-	१५—को इस भूमि का राजा बनाया। अहुर मज्दा
१६—आ-मइय् अस्पं हरुव ह्याया बूमिआ उता मर्-	१६—ने मेरे लिये सब भूमि पर अश्व और मनुष्य
१७—तियम् अदा माम् ख्षाय-थियम् अकुनउष् अउर मज्दा-	१७—उत्पन्न किए; उसने मुझे राजा बनाया अहुरमज्दा ने

१८—मइय उपस्ताम् फ्राबर अउर मज्दाम अदम् अयद-	१८—मुझे मदद पहुँचाई, अहुरमज्दा की मैंने पूजा की,
१९—इय् अउर मज्दा ह्य मथिष्त बगानाम् त्य मइय्-	१९—अहुरमज्दा जो देवों में महान् है, उसने जो मुझसे
२०—अथह् चर्तनइय् अव विसम दस्तामइय् कर्तम्-	२०—करने को कहा, वह सब मेरे हाथ से किया गया—
२१—अव विसम् अउर मज्दा अकुनउष वष्ना अउ-	२१—वह सब अहुर मज्दा ने किया। कृपा से अहुर-
२२—रमज्दाह् इम हदिष् अकुन वम् त्य शूषाया	२२—मज्दा के इस महल को मैंने बनवाया जो शूषा में
२३—अकरिय दूरदष् याता इदा अर्जनम् फ्राबर-	२३—बनाया गया। दूर से उसकी सजावट का सामान (अर्जन) लाया गया।
२४—इय् बूमि अकनिय् याता अथगम् बूम्या अवारसम्-	२४—यह भूमि खोदी गई जब तक मैं भूमि की पथरीली सतह पर पहुँच गया।
२५—यथा कतम् अबव पसाव थिका अकनिय अनिया-	२५—जब खुदाई हो चुकी, तब बजरी (थिका) भरी गई, एक जगह
२६—४० अरष्नीष् बष्नां अनिया २० अरष्नीष् बर्ष्-	२६—४० अरत्नि गहराई तक, दूसरी जगह २० अरत्नि गहराई तक।
२७—ना उपरिय् अवाम् थिका हदिष् फ्रासह्य्	२७—इस बजरी के ऊपर महल बनाया गया।
२८—उता त्य बूमि अकनिय फ्रवत उता त्य थिका-	२८—और जो भूमि नीचे खोदी गई, जो बजरी
२९—अकनिय् उता त्य इष्टिष् अजनिय् कार ह्य बा-	२९—भरी गई, और जो ईंटें बनाई गईं, वे जो बाबिरु के लोग हैं
३०—बिरुविय हउव् अकुनउष् धरमिष् ह्य नउ-	३०—उन्होंने (वह) किया। लकड़ी जो सनोवर की है,

३१—रिन हउव् लबनान नाम कउफ़ हचा अवना अब-	३१—वह, लबनान नाम पहाड़ (है), वहाँ से लाई
३२—रिय् कार ह्य अथुरिय हउदिम् अबर याता	३२—गई। जो अथुरिय (असुर देश) के लोग हैं, वे इसे लाए
३३—बाबिरुव हचा बाबिरउव कर्का उता यउ-	३३—बाबिरु तक; बाबिरु से कर्क और यवन
३४—ना अबर याता शूषाया यका हचा गदारा	३४—शूषा तक लाए। बलूत की लकड़ी* गंधार
३५—अबरिय् उता हचा कर्माना दरनियम् हचा	३५—और कर्मान से लाई गई। सोना
३६—स्पर्दा उता हचा बाख्त्रिया अबरिय् त्य	३६—स्पर्द और बाख्त्री से लाया गया, जो
३७—इदा अकरिय् कासक ह्य कपउतक उता सिकब-	३७—यहाँ गढ़ा गया। काच पत्थर, जो कपोत और सिकब [किस्म का] है,
३८—उद् ह्य इदा कर्त हउव् हचा सुगुदा अब-	३८—जो यहाँ गढ़ा गया, वह सुगुद से लाया
३९—रिय् कासक ह्य अख्शिन हउव् हचा उवारज्-	३९—गया। लाल पत्थर, वह उवारज्मिय (ख्वारिज्म)
४०—मिया अबरिय् ह्य इदा कर्त अर्दतम् उता अ-	४०—से लाया गया, जो यहाँ गढ़ा गया। चाँदी और
४१—सद दारुव हचा मुद्राया अबरिय् अर्-	४१—ताँबा मिस्र (मुद्रा) से लाया गया।
४२—जनम् त्यना दिदा पिष्ता अब हचा यउना	४२—सजावट की सामग्री जिससे दीवार सजाई गई वह यूनान से
४३—अबरिय् पिरुष् ह्य इदा कर्त हचा कुष्-	४३—लाई गई। हाथीदाँत जो यहाँ बनाया गया, कुष देश से

* यका, Oak.

४४—आ उता हचा हिंदउव् उता हचा हरउवत	४४—और हिंद से, और हरहौती से
४५—इया अबरियॢ स्तूना अथगइनिय् त्या इद्-	४५—लाया गया। पत्थर के खंभे जो यहाँ
४६—आ कर्ता अबिरादुष् नाम आवहनम् उजइय	४६—गढ़े गए, उज देश में अबिरादु नाम नगर है,
४७—हचा अवदष अबरियॢ मर्तिया कर्नुवका त्-	४७—वहाँ से लाए गए। संगतराश
४८—यइय् अवदा अकुनवता अवइय् यउना उता	४८—जिन्होंने वहाँ काम किया, वे यूनान और
४९—स्पर्दा मर्तिया दारनियकार त्यइय् दरनि-	४९—स्पर्द देश के थे। कारीगर जिन्होंने सोने का काम
५०—यम् अकुनवष अवइय् मादया उता मुद्रायॢ	५०—बनाया, वे माद और मुद्रा (मिस्र) देश के थे।
५१—आ त्यइय् कासकइनुव् अकुनवप अवइय्	५१—जिन्होंने कीमती पत्थरों पर काम किया, वे
५२—स्पर्दा उता मुद्राया मर्तिया त्यइय्	५२—स्पर्द और मुद्रा के थे। (वे) मनुष्य जिन्होंने
५३—इष्तिया अकुनवष अवइय् बाबिरुविया	५३—ईंटों का काम किया, वे बाबिरु
५४—उता यउना त्यइय् दिदाम् अपिय् अवइय् माद-	५४—और यूनान के थे। जिन्होंने दीवार पर (काम किया) वे माद
५५—या उता मुद्राया थातिय् दारवउष् रुषायथिय वष्-	५५—और मुद्रा के थे। राजा दारयवउ कहते हैं
५६—ना अउरमज्दाह फ्रषम् उनिदातम् परिदिष्तम् अ-	५६—कि अहुरमज्दा की कृपा से (मैंने) उत्तम, सुनिहित और दीवारों से युक्त (महल)

५७—अकुनवम् माम् अउरमज्दा पातुव उता त्यमइय्	५७—बनवाया। अहुर मज्दा मेरी रक्षा करे, और जो मुझसे
५८—कर्तम् उता त्य मना पिता उतमइय् दह्युम्	५८—बनवाया गया, और जो मेरा पिता है, उसकी और मेरे देश की (रक्षा करे)।

इस लेख से विदित होता है कि दारयवउ के सम्राट् हो जाने के बाद भी उसके पिता विष्तास्प और पितामह अर्षाम दोनों जीवित थे। यह महल विष्तास्प के जीवनकाल में ही पूरा हो गया होगा; क्योंकि लेख के अंतिम भाग में सम्राट् ने अपने पिता की रक्षा के लिये अहुरमज्दा से वर माँगा है। हर्जफील्ड के अनुसार पर्सिपोलिस का महल ५१८—१७ ई० पू० में बना। तदनुसार शूषा का प्रासाद ५१७-१६ ई० पू० में बना होगा। ५१८ ई० पू० के करीब दारा अपने ईरानी साम्राज्य की निर्विघ्न व्यवस्था करने में समर्थ हुआ। उसने संभवतः ५१७ ई० पू० में मिस्र देश की यात्रा की और कुश देश को अधीन किया।

इस लेख का सब से रोचक भाग वह है जिसमें राजप्रासाद के शिला-न्यास और विविध सामग्री का वर्णन है। शूषा में जो अपदन का टीला है उसकी खुदाई से लेख की बहुत सी बातों की सचाई प्रकट होती है। महल की कुर्सी करीब २५० गज लंबी और १५० गज चौड़ी है। वह आसपास की नीची धरती से १५ गज की ऊँचाई पर बनी है। करीब ९ गज चौड़ी दीवारें हैं। उनकी नींव में कंकरीट कुटी हुई है जो करीब ४० फुट गहराई तक है। कंकरीट भरने के लिये जो मिट्टी खोदी गई थी उसका वर्णन २६वीं पंक्ति में है। उसमें लिखा है कि बजरी भरने के लिये ४० अरत्नि से २० अरत्नि (हाथ) तक जमीन खोदी गई। बाबेरु के मजदूरों ने बजरी भराई का काम किया (पं० २८–३०)। ईंटों की तैयारी भी बाबेरु के कारीगरों ने की। वे इस काम में बहुत दक्ष थे। महल की ईंटें बनावट में खुरदरी, पर साफ मिट्टी की हैं और छाँह में रखकर कच्ची ही सुखा ली गई थीं। भीतों पर चटकीला लाल और नीला रंग पोत दिया गया था जिसके कई नमूने मिले हैं।

इमारत में बलूत (यका, Oak) की लकड़ी, जो गंधार और करमान से लाई गई, और लबनान पर्वत के सनोबर की लकड़ी काम में लाई गई। लबनान से शूषा तक की ढुलाई में यवन, कर्क, असुर और बाबेरु के लोगों ने भाग लिया। छत, दरवाजे, खिड़की और चौखटों पर सुनहले-रुपहले पत्तरों की जड़ाई से सजावट की गई। सोना स्पर्द (Lydia) और बाख्त्री (Bactria) से, चाँदी और ताँबा मिस्र देश से लाकर शूषा में ही गढ़े गए। रंग-बिरंगी पच्चीकारी के लिये कीमती पत्थर काम में लाए गए। सुगुद (Sogdia) से कबूतरी रंग का काच और खारज्म (Khwarizm) से लाल रंग का पत्थर मँगाया गया। हाथीदाँत इथिओपिया, हिंदुस्तान और हरह्वैती से आया। महल की दीवारों पर बाहर की ओर एक तह नक्काशीदार ईंटों की थी जिस पर अनेक प्रकार के धनुर्धर योद्धा, लपकते हुए शार्दूल, गरुडमुखी सिंह, पक्षधारी बैल और पक्षगामी सिंह दिखाई पड़ते थे। इनके बनाने का श्रेय यूनान के शिल्पियों को था। इनमें से कुछ पर नीले पीले काले हरे सफेद और भूरे रंगों का चमकीला पोता फिरा हुआ था। महल में लगे हुए भारी सतून या पत्थर के खंभे (स्थूणा) उज देश से लाकर शूषा में ही यूनान और लिडिआ के संगतराशों से गढ़े गए।

सम्राट् के अधीन पाँच बड़े देश थे—बाबेरु, मिस्र, यूनान, माद (Medes) और स्पर्द (Lydia)। हर एक काम दो दो देशों के कारीगरों को दिया गया। मोटे तौर पर पाँच तरह का काम हुआ। ईंटों की पथाई बाबेरु और यूनान के कारीगरों ने की। पत्थर के खंभों की घड़ाई यूनान और स्पर्द देश के कारीगरों को सौंपी गई। दीवार की सजावट में माद (Medes) और मुद्रा (Egypt) के लोगों ने भाग लिया और इन्हीं लोगों ने सोने की पिथाई और पच्चीकारी का काम किया। कीमती पत्थरों की कटाई और नक्काशी का काम स्पर्द और मुद्रा के लोगों को सौंपा गया। इस प्रकार ईरान-सम्राट् का यह स्वप्न पूरा हुआ। प्राचीन संसार में महाप्रतापी दारयवउ का यह राजप्रासाद अपने सौंदर्य और वैभव में अद्वितीय गिना जाता था। हाँ, यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने जब चंद्रगुप्त मौर्य के पाटलि-

पुत्र में बने हुए सुगांग राजप्रसाद को देखा तब उसे शूषा और पर्सिपोलिस के राजभवन भी फीके जँचने लगे।

शब्दटिप्पणी

१—बग : संस्कृत भग (भगवान्)=देव।

वज़र्क=महान्, वैदिक वभ्रक, (शक्तिशाली), फारसी बुजुर्ग। 'बुभ्रक' उपाधि सासानी वंश के सम्राटों के सिक्कों पर मिलती है। वेद में इंद्र के लिये वभ्रिन् विशेषण प्रयुक्त होता है।

अउरमज़्दा : अहुरमज़्द, सं० असुरमेधस्। ईरान के प्राचीन धर्म में देवाधिदेव की संज्ञा। ईरानी सम्राटों के शिलालेखों में अहुरमज़्द का नाम बार बार आता है। दारा के बहिस्तूनवाले शिलालेख की चट्टान पर अहुरमज़्द की मूर्ति सम्राट् की मूर्ति के ऊपर बनी हुई है।

ह्य : स्य:=जिसने, संस्कृत त्यद् शब्द।

बूमिं : सं० भूमिम्।

अदा : सं० अधात् (धा धातु)।

२—अस्मानम् :—प्रसिद्ध शब्द आस्मान।

मर्तियम् : मर्त्यम्=मनुष्य को।

३—षियाति : स्वस्ति। श्याति (डा० सुकुमार सेन, पृ० २२७)।

४—दारयवउम् : दारयवउ, सम्राट् का नाम, जिसका फारसी नाम दारा (Darius) है। अर्वाचीन पारसी नामों में दराब या दोराब इसी का रूप है। इसकी व्युत्पत्ति धारयद्वसु=दारयवहु से कही जाती है।

परूनाम् : पुरूणाम्, सं० पुरु—बहुत, अनेक।

ख्षायथिय : क्षत्रिय। क्षायथ्य:=राजा (डा० सेन)।

अकुनउष् : सं० कृणु धातु से संबद्ध है।

५—फ्रमातारम् : सं० प्रमातारम्=स्वामी।

अदम् : अहम्=मैं।

६—दारा की उपाधि ध्यान देने योग्य है—महाराजा (ख्षायथिय वज़र्क) राजातिराजा (ख्षायथिय ख्षायथियानाम्)।

दह्यु : देश, संभवतः दस्यु से संबद्ध है। प्राचीन ईरानी अपने अतिरिक्त इतर देशवासियों को दास या दस्यु समझते थे।

७—अह्याया = अस्याः। बूमिया = भूम्याः।

विश्तास्प : दारा के पिता का नाम, Hystaspes, सं० विष्टाश्व।

पुष् : पुत्र।

हखामनिषिय = हखामनि या खाखानी वंश का, Achaemenian, (सं० सखामनीष्य)।

८—थातिय : कथयति।

९—मथिष्त : महिष्ठ = महत्तम, सबसे बड़ा। अहुरमज्दा को सब देवों में श्रेष्ठ (बगानाम् मथिष्त) कहा है।

हउव् : सः = उसने।

१०—ख्षश : राज्य, क्षत्र।

११—फ्राबर = भरण किया, प्रदान किया।

उवस्प : सु + अश्व = सुंदर घोड़ोंवाला।

उमर्तिय : सु + मर्त्य = सुंदर मनुष्यों वाला।

१२—वष्ना = कृपा, आशीर्वाद से—सं० वस्ना।

१३—उता = और।

अर्षाम : Arsames, दारा का पितामह। नियाक = पितामह।

१४—अवथा : यदिय = तब—जब।

उबा = उभौ। अजीवतम् : अवस्ता जीव् = जीना। अर्थात् दोनों जीते थे।

१६—हरुवह्याया = सर्वस्याः।

१८—उपस्ताम् : उपस्था = सहायता, आश्रय।

२०—अथह : कहा। अकथयत्।

चर्तनइय = आचरण करने को।

विसम् : विश्वम् = सब।

दस्ता = हाथ से। दस्त शब्द का तृतीया ए०।

२२—हदिष् : महल; सदस, सधिस्।

शूषा :—[आकारांत स्त्री० एक०] वह नगर जो अँगरेजी में Susa लिखा जाता है। यह इलम की राजधानी थी। Elam=Highland; इसका एक नाम Anzan भी था। राय कृष्णदासजी सूचित करते हैं कि पुराणों में मेरु के दक्षिण में स्थित वरुण की नगरी का नाम शूषा मिलता है।

२३—दूरदष् : दूर से, दूर+तः, दूरधः।

अर्जनम्=कीमती सामान, अतएव सजावट की सामग्री। यह शब्द ४१-२ पंक्ति में भी आता है और वहीं से यहाँ मूल में सुधारा गया है। अवस्ता अर्ज्, सं० अर्ह्, अर्जः=अर्घ, मूल्य। अर्जन=मूल्यवान, अतएव अलंकरण-सामग्री। याता=तक—संस्कृत यावत्।

२४—अथगम् बूम्या=भूमि की चट्टान अर्थात् पक्की भूमि। नींव खोदते हुए जब पक्की चट्टान मिली, तब बजरी भरकर दीवारें चिनी गईं। अथग=अथंग=अशंग, फारसी संग।

अवारसम् : अव+अरसम् = नीचे गया, ऋष गतौ—ऊपर से नीचे पहुँचना।

२५—कतम् : खातम् = खुदाई। कन्=खोदना, सं० खन्। अबव : भू धातु, हो चुकी।

थिका=टूटे हुए पत्थर, रोड़े या बजरी। सं० सिकता से ईरानी थिका का संबंध प्रतीत होता है। सिकता=बजरी, शर्करा, हिंदी ठिक्का, ठिकरा। डा० सेन मूल संस्कृत शब्द 'शिका' मानते हैं।

२६—अरत्नीष् : अरत्नि शब्द का द्वितीया बहुवचन। संस्कृत अरत्नि=एक हाथ। अवस्ता अरथ्नि, ईरानी अरत्नि। इस पंक्ति में पत्थर की बजरी के भराव की गहराई बताई गई है। महल की नींव खोदने से बजरी की गहराई ४० फुट (१२ मीटर) तक पाई गई है। कहीं कहीं जहाँ पक्की जमीन थी वहाँ इससे बहुत कम भी है।

बर्ष्ना=गहराई या ऊँचाई से, बर्षन् के तृतीया का एक०। संभवतः संस्कृत वर्ष्मणा से संबद्ध है। 'गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः।' (रघुवंश ४।७६)।

अनिया :—अन्यत्र; कहीं ४० अरत्नि, कहीं २० अरत्नि।

२७—फ्रासह्य् : लुङ् कर्म० प्र० एक०=बनवाया गया। व्युत्पत्ति अनिश्चित।

२८—फ्रवत=नीचे की ओर, सं० प्रवता। इसका अन्वय अकनिय् (खोदी गई) के साथ है।

२९—इष्तिष्=ईंट। सं० इष्टका, अवस्ता, इष्त्य। बिचली और अब की फारसी में खिष्त। अजनिय् : जन् धातु=बनाई गई।

कार=लोग, सेना।

३०—बाबिरुविय—पाली बावेरु, अँगरेजी Babylonian. नींव खोदना, बजरी भरना और ईंटें पाथना—ये तीन काम बावेरु के लोगों ने किए।

धरमिष्=दारु, धन्नी, Wooden beam.

नउरिन=सनोबर की लकड़ी, अँगरेजी Cedar। बेबिलन की भाषावाले लेख में इसका नाम 'इष् एरिनु' दिया हुआ है।

३१—लबनान: Lebanon जो पुराने समय से सनोबर की लकड़ी के लिये प्रसिद्ध रहा है।

कउफ=पहाड़। कूफ, कोह, सं० कोफः (डा० सेन, पृ० १९७)।

हचा=से, From। वैदिक सचा=सह, √षच् समवाये धातु। इस व्युत्पत्ति के लिये मैं प्रो० क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय का अनुगृहीत हूँ।

अबरिय्=लाई गई। बर् [सं० भर]=ले जाना, लङ्, कर्मवाच्य, प्रथम पुरुष एकवचन। और भी जैसे अकरिय्, अकनिय्, आदि।

३२—अथुरिय : Assyrian. दारा के लेखों में असिरिया के लिये अथुरिय नाम आया है। असिरिया के लोग पहाड़ से लकड़ी ढोकर बेबिलन (बावेरु) तक लाए, और बावेरु से कर्क देशवासी और यूनानी उसे शूषा तक लाए। डा० सेन के मत में ईरानी अथुरिय=अशुर्य; अथुरा=अशुरा, Assyria

३३—बाबिरुव—बावेरु में। जातक में इसका नाम बावेरु मिलता है। कर्का=कर्क देशवासी। हर्जफील्ड के मत में Karians.

३४—यउना = यूनानी ; योनाः (अशोक के लेखों में)। यका = एक लकड़ी जिसे कुछ विद्वान् बलूत या ओक मानते हैं। गदारा = गंधाराः, गंधार देश से।

३५—कर्मना : Carmania, आधुनिक Kerman। दरनियम् = सुवर्ण ; अवस्ता जरन्य, सं० हिरण्य। ईरानी लेखों में पहली ही बार यह शब्द यहाँ मिला है।

३६—स्पर्दा : Sardis जो लिडिया का प्रधान नगर है। सोना और संगतराश स्पर्दा से मँगाए गए थे। सं० स्वर्द (डा० सेन)।

३७—कासक = कीमती पत्थर, ईरानी शब्द, संभवतः कास् धातु से। इलम की भाषा कसिक। कपउतक = एक पत्थर—संस्कृत कपोत। अर्थात् कबूतरी रंग का पत्थर। "Lapis lazuli", लाजवर्दी रंग का पत्थर। इलम की भाषा में कबुत्क सिकब—अज्ञात व्युत्पत्ति, एक प्रकार का पत्थर; शाइल के मत में "Serpentine" नामक पत्थर।

३८—सुगुद : Sogdiana; आमू और सीर नदियों के बीच का पहाड़ी प्रदेश, जहाँ अब रूस का उजबक गणराज्य है।

३९—अखिषन = लाल रंग का कीमती पत्थर; अँगरेजी Hematite.

उवारज्मिया :—ख्वारिज्म प्रदेश जो रूसी उजबक राज्य के अंतर्गत है, Chorasmia; इसी में खीवा नगर है।

४०—अर्दतम् = चाँदी; अवस्ता अर्जत, सं० रजत।

४१—असद दारुव = ताँबा या काँसा; अनिश्चित व्युत्पत्ति का शब्द।

मुद्रा = इजिप्ट का प्राचीन नाम। बेबिलन की भाषा में इसका नाम मिसिर है। वहीं से अरबी में मिसिर नाम आया है। सं० मिश्र से उसका संबंध नहीं है।

४२—दिदा = दीवार। पिष्ता = सजाई गई—पेष् धातु, रँगना या सजाना।

४३—पिरुष् = हाथीदाँत। सं० पीलु, बेबिलन की भाषा में पिलु, शूषा की भाषा में पिलु, फारसी पील, फील। कुषा = इथिओपिया का प्राचीन नाम, अबीसिनिया। हमदान और नक्शे-रुस्तम के लेखों में भी यह नाम

आता है। सं० कुश द्वीप, नील नदी के प्रथम और दूसरे प्रपात का प्रदेश कहलाता है। पुराणों के आधार पर श्रीयुत विल्फोर्ड ने जो नील नदी का चित्र तैयार किया था, उससे लेफ्टिनंट स्पीक को नील का स्रोत ढूँढ़ निकालने में बहुत सहायता मिली। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवासी कुश द्वीप से साक्षात् परिचित थे। [Cunningham, Ancient Geography, Introduction by Majumdar, P. 38.]

४४—हिंदउव् :—सिंधौ = हिंदु देश में, भारतवर्ष में [सप्तमी एकवचन]; सं० सिंधु।

हरउवतिया : Arachosia, प्राचीन सरस्वती, ईरानी हरह्वैती, हरउवती; आधुनिक अरगंदाव नदी। कंदहार का प्रदेश जिसे हारहूरा भी कहते थे। संस्कृत ग्रंथों में इसे हारहूरक, हारहूणक भी कहा है। यहीं से काली दाख आती है जो बंबई के बाजार में अब तक हारहूर कहलाती है।

४५—स्तूना = स्तंभ। अवस्ता स्तूना, सं० स्थूणा। सतून।

४६—अबिरादुष् = केरिया में Approdisias नामक स्थान जो संगमरमर के लिये प्रसिद्ध था। उजइय् = उज प्रदेश Caria जो फिजिआ और लिडिया के समीप एशिया माइनर में है।

४७—कर्नुवका = संगतराश या खनिक लोग जो खदान में काम करते थे।

४८—अवदा = वहाँ; अवधा।

४९—दारनियकार = कारीगर (संभवतः सोना साफ करनेवाले, निआरिए)। संस्कृत कार; बिचली फा० कार; नई फा० कार या गार। ४९ से ५५ पंक्तियों तक भिन्न भिन्न देशों से आए हुए कारीगरों का वर्णन है।

५६—फ्रषम् = उत्तम, श्रेष्ठ। इस शब्द की निरुक्ति निश्चित नहीं है। संभव है इसका संबंध फ्रषस्त (सं० प्रशस्त) से हो। उनिदातम् = सुनिहित। Well-laid, परिदिदतम् = चारों ओर दीवार (दीदा) से घिरा हुआ।

५७—पातुव = रक्षा करे।

———

शब्दांक अर्थात् संख्या-सूचक शब्द-संकेत

[लेखक—श्री अगरचंद नाहटा]

भारतीय साहित्य और अभिलेखों में संख्या सूचित करने के तीन मुख्य प्रकार पाए जाते हैं—(१) अंकों द्वारा, (२) अक्षर-संकेतों द्वारा, और (३) शब्द-संकेतों द्वारा। इन प्रकारों के भी अनेक उप-प्रकार मिलते हैं। अंकों द्वारा संख्या सूचित करने की दो शैलियाँ थीं। प्रथम प्राचीन शैली में १ से ९ तक की इकाइयों के लिये नौ चिह्न, १०-२०-३०-४०-५०-६०-७०-८०-९० इन नौ दहाइयों के लिये नौ चिह्न, और १०० तथा १००० के लिये दो चिह्न—कुल मिलाकर बीस चिह्न थे। इन बीस चिह्नों से १ से लेकर ९९,९९९ तक की संख्याएँ लिखी जाती थीं। पता नहीं चलता लाख, करोड़ आदि की संख्याएँ कैसे लिखी जाती थीं। दूसरी शैली वही है जो इस समय प्रचलित है। इसमें १ से लेकर ९ तक के लिये नौ चिह्न और शून्य के लिये एक चिह्न—कुल मिलाकर १० चिह्न हैं जिनके द्वारा छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी सब प्रकार की संख्याएँ लिखी जाती हैं।*

अक्षरों द्वारा संख्या सूचित करने की भी दो शैलियाँ थीं जिनमें से प्रथम प्राचीन जैन-साहित्य में और दूसरी आर्यभट आदि के ज्योतिष-विषयक ग्रंथों में उपलब्ध होती है। इन दोनों के भी अनेक उपप्रकार प्रचलित थे।†

---

* विशेष विवरण के लिये देखिए—श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, परिच्छेद १६ (पृष्ठ १०३)।

† विशेष विवरण के लिये देखिए—

(१) ओझा: भारतीय प्राचीन लिपिमाला, परिच्छेद १९।

(२) मुनि पुण्यविजय: भारतीय जैन श्रमण संस्कृति और लेखन-कला, पृष्ठ ६३।

अक्षरांकों की प्रथम शैली का उपयोग जैनागम-छेदसूत्र एवं चूर्णियों आदि में एक समान पाठ, प्रायश्चित्त, भांगा आदि के निर्देश में जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण कृत गीतकल्प-भाष्य में, जहाँ मूल गाथा का भाष्य समाप्त होता है वहाँ मूलसूत्र की गाथा की संख्या सूचित करने में भी पाया जाता है। पर मुख्यतया इनका प्रचार ताड़पत्रीय पुस्तकों की पत्रसंख्या को सूचित करने में हुआ है। इनकी आकृति के लिये भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १-७ तथा भा० जै० श्र० ले०, पृ० ६३७ देखें।

दूसरी शैली में स्वरांक एवं व्यंजनांक हैं। इनका उपयोग ज्योतिष ग्रंथों में ही मिलता है। मुख्यतया इनका प्रयोग इस प्रकार पाया जाता है—क से झ तक और ट से ध तक क्रम से १ से ९ संख्या, प से म तक १ से ५, य से ह तक १ से ८, न ञ ये शून्य द्योतक।

ग्रंथांतरों में इनकी संख्या भिन्न भिन्न प्रकार* की भी पाई जाती है। देखें भा० प्रा० लिपिमाला, पृ० १२३।

शब्दों द्वारा संख्या सूचित करने के भी दो प्रकार थे जिनको नामांक† और शब्दांक कह सकते हैं। प्रथम प्रकार में किसी वस्तु या व्यक्ति का नाम ही अंक का काम करता है अर्थात् संख्या को सूचित करता है। अपने वर्ग में किसी वस्तु या व्यक्ति की जो क्रम-संख्या होती है उस वस्तु या व्यक्ति का नाम उसी संख्या का वाचक माना जाता है। जैसे तीर्थंकरों के वर्ग में चौबीस तीर्थंकर हैं, उस वर्ग में कुंथुनाथ तीर्थंकर की क्रम-संख्या सत्रहवीं है, अतः कुंथुनाथ यह नाम १७ संख्या का सूचक है।

---

* हमारे संग्रह में अक्षर-चिंतामणि ग्रंथ में व्यंजनांक इस प्रकार से लिखे हैं:—

क ४ ख ३ ग २ घ ५ ङ ७ च १ छ ३ ज १ झ ४ ञ ७ ट ९ ठ ७ ड २ ढ १ ण ५ त ४ थ १ द २ ध ७ न ५ प ६ फ १ ब १ भ ४ म ७ य ७ र २ ल ६ व २ श ८ ष १ स ४ ह २ क्ष ८।

† संवत् की संख्या न लिखकर उसका नाम (विकारी, कीलकादि) ही लिख देने की परिपाटी भी श्रवण बेलगोल आदि के शिलालेखों में विशेष रूप से पाई जाती है। वह भी एक प्रकार से संख्यासूचक नाम-संकेत (नामांक) ही है।

दूसरे प्रकार में पदार्थों की गिनती के आधार पर* उन पदार्थों के वाचक शब्दों द्वारा संख्याएँ सूचित की जाती हैं। जो पदार्थ गिनती में जितना होता है वह उतनी संख्या को सूचित करता है। जैसे वेद चार हैं अत: वेद शब्द ४ (संख्या) का सूचक माना गया है; तीर्थंकर चौबीस हैं अत: तीर्थंकर शब्द २४ का सूचक है। इस निबंध में इन्हीं संख्या-सूचक शब्दांकों का परिचय और संग्रह अभीष्ट है।

---

* यथा :—

मनुष्य आदि के कान, हाथ, आँखें, बाहू, जंघा, स्तन, पैर संख्या में २-२ होने से २ के वाचक हैं।

हाथ की अँगुलियाँ १०, हाथ-पैर दोनों की २०, नख १०, दाँत ३२ होने से उतनी उतनी संख्याओं के वाचक हैं।

गाय के स्तन ४, चरण ४, भौंरे के पैर ६, हाथी के दाँत २ व्याघ्री के स्तन ८ के वाचक हैं।

शिव के नेत्र ३, कार्त्तिकेय के मुख ६, ब्रह्मा की भुजाएँ ४, चंद्र १, सूर्य १२, ग्रह ९, नक्षत्र २७, शिव ११, ब्रह्मा १, इंद्र १४, सुर ३३, यक्ष १३, विद्यादेवी १६ के वाचक हैं।

छंदों के नामों एवं अक्षरों की संख्या पर—अनुष्टुप्, पंक्ति, जगती, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, विकृति इत्यादि।

ज्योतिष संबंधी—मास १२, पक्ष २, दिन १५, राशि १२, भाव २।

साहित्य-शास्त्र संबंधी-पुराण १८, कालिदास-काव्य ३, व्याकरण ८, वेद ४, महाकाव्य ५।

कला-संबंधी—स्त्रीकला ६४, पुरुषकला ७२।

इस प्रकार शब्दांकों का आधार पदार्थों के भेद-प्रभेदों की संख्या है।

कुछ शब्दांकों का संबंध संप्रदायविशेष की मान्यतानुसार होता है; जैसे जैन संप्रदायानुसार—गुप्ति ३, गौरव ३, अनुयोग ४, कथा ४, कषाय ४, गति ४, ध्यान ४, बुद्धि ४, संघ ४, सुरभेद ४, अनुत्तर ५, आचार ५, ज्ञान ५, परमेष्ठि ५, मेरु ५,

उत्पत्ति और प्रयोजन—प्राचीन साहित्य अधिकांश में पद्यमय है। गणित, ज्योतिष एवं अन्यान्य ग्रंथों में लंबी लंबी संख्याओं को छंदोबद्ध करने में कठिनता पड़ती है और विस्तार भी होता है। इस समस्या को हल करने के लिये संभवतः लेखकों ने शब्दों द्वारा संख्या सूचित करने की रीति निकाली।

प्राचीनता और प्रचार—इस प्रकार शब्दों के द्वारा संख्या सूचित करने की परिपाटी बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य के शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों तथा जैनधर्म के सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में भी इसके उदाहरण पाए जाते हैं। कात्यायन और लाट्यायन श्रौत-सूत्रों में २४ के लिये गायत्री और ४८ के लिये जगती का प्रयोग मिलता है। वेदांग ज्योतिष में १-४-८-१२ और २७ के लिये क्रमशः रूप, अय, गुण, युग और भ-समूह का प्रयोग हुआ है। पिंगल के छंदःसूत्र में कई जगह इसी तरह अंक सूचित किए गए हैं। शब्दांकों का सब से अधिक उपयोग वराहमिहिर ने अपनी पंचसिद्धांतिका में, ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्रह्मस्फुट-सिद्धांत में तथा लल्ल ने अपने शिष्य-धी-वृद्धिद में किया है। सातवीं शताब्दी के पीछे के ज्योतिष ग्रंथों में इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है। धीरे धीरे शिला-लेखों और ताम्रपत्रों में भी इनका प्रयोग होने लगा। ग्रंथ-प्रणेता अपनी कृतियों के रचना-संवत् इसी परिपाटी से सूचित करने लगे। श्वेतांबर जैन ग्रंथों में ग्रंथ की प्रशस्तियों में एवं दिगंबर शिलालेखों में इस परिपाटी का व्यवहार ग्यारहवीं शताब्दी से विशेष रूप से पाया जाता है।

विषय ५, व्रत, महाव्रत ५, शरीर ५, समिति ५, सुपार्श्वफणिफण ५, स्वाध्याय ५, काय ६, लेश्या ६, तत्त्व ७, ९, नरक ७, पार्श्वफण ७, व्यसन ८, मंगल ८, प्रवचनमाता ८, प्रभावक ८, ग्रैवेयक ९, केशव ९, ब्रह्मगुप्ति ९, जैनपद्य ९, यतिधर्म १०, जिनोपाशकप्रतिमा ११, अनुपेक्षा १२, उपांगभिक्षुप्रतिमा १२, क्रियास्थान १३, प्रथम जिनभव १३, गुणस्थान, पूर्व, जीवाजीवोपकरण १४, परमधार्मिक १५, विद्यादेवी १६, संयम कुंथु १७, पापस्थानक १८, ज्ञाताध्ययन १९, परिषत् २२, जिन २४, लब्धि २८।

संख्या सूचित करने का नियम—'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार शब्दांकों द्वारा संख्या प्रकट की जाती है अर्थात् पहले शब्द से इकाई, दूसरे से दहाई, तीसरे से सैकड़ा, चौथे से हजार इत्यादि-इत्यादि। जैसे

नयन-वेद-मुनि-चंद्रमा
२ ४ ७ १

१७४२ का सूचक है न कि २४७१ का। इसी प्रकार युग्म (२) नयन (२) मुनि (७) चंद्र (१) १७२२ की संख्या प्रकट करता है न कि २२७१ की। साधारण और सर्वमान्य नियम यही है पर कहीं कहीं इसके अपवाद भी मिल जाते हैं।*

---

* जैसे—(क) शशि[१] उदधि[७] काय[६] शशि[०] (जिनतर्षकृत जंबूकुमाररास), भोजन[१७] नभ[०] गुप्त[३] (जयसोमकृत १२ भावना वेलि) जै० गु० क० भाग २, पृ० १२७। —यहाँ सीधा क्रम रखा है।

(ख) अचल[७] लोचन[२] संयमभेद[१७] (१७७२) दानविजयकृत वीरस्तवन जै० गु० क० भाग २ पृ० ४४६।

इसमें पहले के दो शब्द सीधे क्रम से और पीछे का एक 'वामतो गति' के अनुसार है।

(ग) संवत संयम भेद[१७] वखाणो, वसु[८] भुज[२] वरिस वखाणो जी (ज्ञान विमलकृत साधु-वंदना)।

संवत संयम भेद[१७] मुनि[७] गुण[३] बरस नुमान (ज्ञान विमलकृत शांतिस्तवन)।

इनमें पहला शब्द सीधे क्रम से, पीछे के दो 'वामतो गति' के अनुसार हैं।

(घ) संवत उगणोत्तर श्रावणमासे (१७१६), सुरसुंदरीदास, जै० गु० क० भाग २, पृ० १८६।

इसमें संख्या सूचित न करके केवल आगे की संख्या दे दी है।

(ङ) दर्शन[६] मुनि[७] शशि[१] मान (१७६)—वृद्धिविजयकृत संखेश्वरस्तवन, जै० गु० क० पृ० २७१।

इसमें शून्यांक छोड़ दिया गया है।

इस प्रकार शब्दांकों का व्यवहार विविध प्रणालियों से देखा जाता है।

दुर्बोधता—एक ही शब्द अनेक संख्याओं का सूचक—(१) अपेक्षा-भेद से एक ही पदार्थ के कई प्रकार हो सकते हैं, एक ही पदार्थ की कई गिनतियाँ हो सकती हैं। इस कारण एक ही शब्द विभिन्न संख्याओं का सूचक हो सकता है। जैसे समुद्र सात भी हैं और चार भी। अतः समुद्र शब्द के द्वारा दोनों संख्याएँ सूचित की हुई मिलती हैं। लोक तीन भी हैं, सात भी और चौदह भी। लोक शब्द के द्वारा ये तीनों संख्याएँ प्रकट की गई हैं।

(२) कभी कभी एक ही शब्द के दो भिन्न अर्थ होते हैं। एक अर्थ में वह एक संख्या को प्रकट करता है और दूसरे अर्थ में दूसरी संख्या को। जैसे, युग का अर्थ जोड़ा भी है और युग नामक काल-विशेष भी। अतः वह २ और ४ दोनों संख्याओं का सूचक है। श्रुति का अर्थ कान भी है और वेद भी। अतः वह भी उक्त दोनों ही संख्याओं को सूचित करता है।

(३) इसी प्रकार कुछ ऐसे शब्द हैं जो अलग अलग वस्तुओं से संबद्ध होने पर अलग अलग गिनती रखते हैं। जैसे अंग शब्द को लीजिए। अंग यदि वेद के हों तो यह शब्द ६ का सूचक होता है, यदि राज्य के हों तो ७ का और यदि योग के हों तो ८ का।

इस प्रकार की अनिश्चितता होने के कारण कभी-कभी संख्या के ज्ञान में बड़ी गड़बड़ हो सकती है।*

---

* एक ही शब्द विविध संख्याओं का सूचक होने के कारण बड़े बड़े विद्वानों से भूल हुई है। इसका एक ही दृष्टांत पर्याप्त होगा। कविवर समयसुंदर-रचित अष्टलक्ष्मी ग्रंथ का रचनाकाल कवि ने "रस जलधि राग सोम" दिया है। इसका श्रीयुत मोहनलालजी देशाई बी० ए०, एल-एल० बी० ने सं० १६७६ माना, पं० लाल-चंद्रजी गांधी तथा प्रो० हीरालाल कापड़िया ने १६४६ माना। पर वास्तव में सं० १६४९ होना चाहिए। इसमें जलधि से ४ और ७ एवं रस से ६ और ९ दो-दो संख्या निकलने के कारण गड़बड़ी हो गई। अतएव विचार-पूर्वक ही इनका निर्णय करना आवश्यक होता है।

इसलिये जिन शब्दों द्वारा एक से अधिक संख्या सूचित होती है उनकी तालिका यहाँ दी जाती है :—

शब्द	सूचित भिन्न संख्या	शब्द	सूचित भिन्न संख्या
गो	१, ९	रंध्र, ख, छिद्र	०, ९
आदित्य	१, १२	विश्व	१३, १४
हरनेत्र	१, ३	पर्वत	७, ८
युग	२, ४	दुर्ग	९, १०
करांगुलि	४, ५, २०	गुप्ति	३, ९
ईश्वर	४, ११	दंड	१, ३
तत्त्व	३,५, ९, २५, २८, ७	प्रकृति	१४, २१, २५
भुवन	३, ७, १४	विद्या	३, १४, १८
रस	६, ९	नाग	७, ८
लोक	३, ७, १४	सुर	५, ७, ३३
विकृति	६, २३	जगती	१२, ४८
नरक	७, ४०	गिरि	५, ७
श्रुति	२, ४, ८, २०	वर्ण	४, ५, ६
मेरु	१, ५	अंग	५, ६, ७, ८, ११
यति	६, ७	पक्ष	२, १५
मुनि	३, ७	वसु	७, ८
गुण	३, ६, ६	चंद्रकला	१५, १६
रत्न	३, ५, १४, १३, ९	इंद्र	१, २४
शिव	१०, ३, ११	गोत्र	१, ७
द्वीप	७, ८, १८	पक्ष	२, १५
विधु	१, ४	रद	१, ३२
समुद्रवाची शब्द	४, ७	राशि	१, १२
भूखंड	६, ९	पंक्ति	०, १०
दिशावाची शब्द	४, ८, १०	गज	३, ८
शिलीमुख	५, ७	वाजी	३, ७

शब्द	सूचित भिन्न संख्या	शब्द	सूचित भिन्न संख्या
वेद	३, ४	स्वर, सुर	५, ६ ७, ८
कर्म	८, १२	करल	३, ६
पुर	३, ७	जीव	१, ६
ब्रह्म	१, ३, ८	खर	६, ७
वायु के पर्यायवाची शब्द	५, ४९	मही	१, ७
वह्नि	३, ५	पवन	५, ९

प्रस्तुत संग्रह का संकलन

कोई ७-८ वर्ष पूर्व जब मैंने बीकानेर के जैन ज्ञानभंडारों के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची का कार्य प्रारंभ किया तब ग्रंथों के रचना एवं लेखन-काल में प्रयुक्त शब्दों के अंक निर्धारित करने में कठिनता होने लगी। उसी समय इनका संग्रह करने की इच्छा हुई। सुयोगवश जयचंद्रजी के ज्ञान-भंडार की सूची करते समय २ शब्दांकसंग्रहात्मक प्रतियाँ मिलीं, तब वह इच्छा और भी प्रबल हुई। फलतः भिन्न भिन्न ग्रंथों को देखकर इनका एक संग्रह तैयार किया। इस संग्रह को तैयार हुए ५ वर्ष के लगभग हो गए, पर सामग्री बहुत अधिक मिल जाने से उसको स्वतंत्र रूप में प्रकट करने के विचार से वह यों ही पड़ा रहा। किंतु अब वैसा होने में देर देख वह इस इच्छा से प्रकाशित किया जा रहा है कि सभी साहित्यिक विद्वानों को इस संग्रह से लाभ हो। शब्दांकों में प्रयुक्त शब्दों के प्रकारों का विवरण भी तैयार किया गया है। उसे आधारभूत ग्रंथों के श्लोक, टिप्पणियों सहित परिशिष्ट में देने का विचार था, पर लेख का विस्तार हो जाने के भय से वह सारी सामग्री इस लेख में नहीं प्रकाशित की जा रही है।

इस संग्रह के संकलन में अनेक मित्रों से विभिन्न प्रकार की सहायता मिली है। उनमें से स्वामी नरोत्तमदासजी, पं० दशरथजी, मिश्रीलालजी पालरेचा, हजारीमल बाँठिया आदि धन्यवाद के पात्र हैं।

जिस प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री का उपयोग इस संग्रह में किया गया है, उसमें से कतिपय ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं : १—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, २—भारतीय श्रमणसंस्कृति अने जैन लेखनकला, ३—काव्यकल्पलता सटीक, ४—गणितसारसंग्रह (अवतरण पं० के० भुजबली से प्राप्त), ५—जयचंदजी भंडार की दो प्रतियाँ, ६—रचना-विचार, ७—सुंदरग्रंथावली, ८—ज्योतिर्विज्ञानचंद्रिका (वेदांगकोषमाला), ९—संस्कृत के सांकेतिक अंक (जै० सि० भास्कर भा० ७ कि० १), १०—गणितनाममाला, ११—बाबू पूरणचंद जी नाहर की नोटबुक।

इसी प्रकार वंशभास्कर, पट्टावलीसमुच्चय, खरतरगच्छ पट्टावली-संग्रह, जैन गुर्जर कविओ भाग १-२ आदि अनेक ग्रंथों का उपयोग इस संग्रह में किया गया है।

इस संग्रह में प्रयुक्त शब्दांक एवं संग्रहात्मक सूचियों का ही उपयोग किया गया है। पर्यायवाची शब्दों का संग्रह करने से और भी अनेक शब्दांक बढ़ाए जा सकते हैं।

शब्दांकों के खोजने में सुभीता हो इसलिये इन्हें संख्यानुक्रम तथा उसमें भी अक्षरानुक्रम से लिखा गया है। एक ही पदार्थ के पर्यायवाची जितने शब्द एक-संख्या-सूचक शब्दों में मिले उन्हें ( ) बंधनी में एक ही स्थान पर लिख दिया गया है जिससे पता चले कि मूल शब्दांक कौन से और कितने हैं एवं उनके पर्यायवाची नामों के कारण संख्या कितनी बढ़ गई है। सब ग्रंथों की रचना एवं लेखनकाल संबंधी संवत् जान लेने के साथ उसके साथ में दिए हुए तिथियों-वारों-महीनों को भी जानना आवश्यक होता है और उनके भी कई पर्यायवाची शब्द पाए जाते हैं, अतएव परिशिष्ट सं० १ में उनके पर्यायवाची नामों के साथ सूची दे दी गई है। कई ग्रंथों में लेखकों ने अपने नाम श्लेष में तथा अक्षरों आदि के संकेत रूप से सूचित किए हैं। उनके उदाहरणों की सूची भी परिशिष्ट संख्या २ में दे दी गई है। इस प्रकार यथासंभव इस शब्दांक-संग्रह को विशेष उपयोगी एवं विविध जानकारी का साधन बनाने का प्रयत्न किया गया है।

शब्दांक-संग्रह*

शून्य (०)—आकाश और उसके पर्याय (अंतरिक्ष, अंबर, अनंत, अभ्र, ख, गगन, दिव, नभ, पुष्कर, वियत्, विहायस्, व्योम, विष्णुपाद, सुर-वर्त्म, शून्य), खग, छिद्र और उसके पर्याय (रंध्र), पंक्ति, पूरण, पूर्ण, बिंदु, शिव, शून्य।

एक (१)—अंगुष्ठ, अंशु, अज, (अब्जज, धाता, पितामह, प्रभव, ब्रह्मा, विधु), अतीत, अद्वैतवाद, अमृत-द्युति (अमृतरुचि, इंदु, उडुपति, एणांक, एणभृत, ओषधीश, कलाधर, कलानिधि, कुमुद-बांधव, कुमुदिनी-पति, क्षपाकर, ग्लौ, चंद्र, जैवातृक, द्विजराज, नक्षत्रेश, निशाकर, निशानाथ, निशापति, निशिपति, निशेश, पीयूष-दीधिति, प्रालेयांशु मृगांक, रजनीकर, रजनीनाथ, रजनीश, रात्रि-पति, रोहिणी-पति, विधु, श्वेतज्योति, शशांक, शर्वरीकांत, शशधर, शशभृत्, शशि, शीतकर, शीतगु, शीतदधि, शीतरश्मि, शीतांशु, सित-कर, सुधांक, सुधांशु, सोम, हिमकर, हिमगु, हिमज्योति, हिम-रुच्), अलख, अवनि (इला, उर्वरा, उर्वी, काश्यपी, कु, क्षमा, क्ष्मा, क्षिति, क्षोणी, गो, धरणी, धरती, धरा, धात्री, पृथ्वी, भू, भुवि, भूमि, मही, मेदिनी, वसुंधरा, वसुधा) अश्व, आत्मा, आदि, आदित्य (काश्यपि, तपन, दिनेश), इंद्र (शक्र), उदय, एक, कलश, कलि, कुमुद, खड्ग, गजास्य, गणपति-रदन (विनायक-दंत), गो, गोत्र, छाया, जीव, ज्ञेय, तनु, त्रिनयन, दंड (स्वर्दंड), दिक्पति (दिशापति), द्विज, दिनेश-चक्र-रथ, दीप, नायक, नासा-वंश, पताका, प्रभव, प्रालेय, प्रासाद, बिंदु, मनस्, मुख (वक्त्र), मेरु, मेष (राशि), यंत्र, रमा, रद, रश्मि, राशि, रूप, श्वेत, शंख, शरद, शुक्रनेत्र (शुक्रदृष्टि), शीता, शक्वरी, शिशिर, सिंधु, स्वर्दंड, हर-नेत्र, हस्ति-कर।

---

* इस संग्रह में केवल उन्हीं शब्दों और पर्यायों का संकलन किया गया है जिनका प्रयोग एवं उल्लेख हमें प्राप्त हो चुका है।

दो (२)—अंतक (कृतांत, यम, यमराज, वैवस्वत, शमन), अंबक (अक्षि, आँख, आँखड़ी, ईक्षण, चक्षु, दृग् , दृश्, दृष्टि, नयन, नेत्र, लोचन), अंह्रि (अंघ्रि, चरण, पाद), अश्विं (अश्वी, नासत्य), असि-धारा (खड्ग-धारा), आकृति, उभ (उभय), कर (पाणि, हस्त), कर्ण (श्रवण, श्रुति), कुच (पयोधर, वक्षोज, स्तन), कुटुंब, कृति, गंगा गौरी, गजदंत, गुल्फ, जानु, जंघा, दंडधर, दल, दस्र, दंश, दो: (दोर्, दोस्, बाहु, भुजा), द्वंद्व, द्वि, द्विज, द्वै, , द्वैत, द्वौ, दो, नदी-कूल (नदी-तट), नय, नाग-जिह्वा, पक्ष (घस्र), प्रमाण, प्रीति-रति, भरत-शत्रुघ्न, मिथुन, यमल, युगल, युतक, रथ-धुर्य, रविचंद्र, राम-नंदन (राम-सुत), राम-लक्ष्मण, विनायक-स्कंध, विभव, वृष (राशि), शृंग, स्रोत।

तीन (३)—अग्नि (अनल, अर्चि, आज्याश, कृशानु, चित्रभानु, ज्वलन, तपन, तनूनपात्, दहन, पावक, रोहिताश्व, वह्नि, वायु-सख, वैश्वानर, शिखी, सप्तार्चि, हव्यवाहन, हिरण्यरेता, हुताशन, होतृ), अर्चि, अर्थ, आज्यांश, ईश्वरनयन (ईश्वरदृग्, प्रभु-नेत्र, शिव-नेत्र, शंकर-लोचन, शिवाक्ष, हरचक्षु, हर-नयन, हर-नेत्र,), कंबुग्रीव-रेखा, काल, कालिदास-काव्य, क्रम, गंगा-मार्ग, गज, गुण, गुप्ति, गौरव, ग्रावा-रेखा, जग (जगत्, भुवन, लोक, विश्व), जरांघ्रि, ज्वर, तत्त्व, ताप, तिसृ, त्रय, त्रि, त्रिकटु, त्रिकाल, त्रिकूट, त्रिकूट-कूट, त्रिक्षेत्र, त्रिगुण, त्रिजगत्, त्रिदशा, त्रिनेत्र, त्रिपदी, त्रिफला, त्रिमौलि, त्रियामा-याम, त्रिरत्न, त्रिवस्ति, त्रिशिरा, त्रिशूल, त्रैत, दंड, दशा, पद्य, पलाश-दल, पाल, पुर, पुरुष, पुष्कर, पूर्ण, ब्रह्म, भव-मार्ग (शिव-मार्ग), भवन, भुवन, मुनि, यज्ञोपवीत-सूत्र, रत्न, राम, वचन, वर्ण, वर्हि, वलय, वलि, वाजी, विक्रम, विष्टप, विद्या, वेद, शक्ति, शिर, शूल, शुभेतरा लेश्या, संध्या, सहोदरा, हर-हत-पुर।

चार (४)—अंग, अंत:करण, अंबुधि (अंबुनिधि, अंभोनिधि, अंभोधि, अपांपति, अब्धि, अर्णव, आप उदधि, उदन्वंत, उदन्वान्, कूपार, जलधि, जलनिधि, जलाशय, दधि, नदीनाथ, नीरधि, नीरनिधि, पयोधि, पयोनिधि, पाथोनिधि, पारावार, याद:पति, वनधि, वारिधि, वारिनिधि, वारि-राशि, वार्धि, विषधि, सलिलाकर, समुद्र, सरित्पति, सागर, सिंधु),

अज-मुख (ब्रह्ममुख, ब्रह्मास्य, विधि-मुख), अनुयोग, अब्द्-बीज, अभिनय, अप (आप), अवस्था, आश्रम, ईश्वर, उपाय, कथा, करांगुलि, कषाय, कास्य, कूँट, कृत, कृता, केंद्र, कोष्ठ, खानि, गज-जाति, गति, गवांघ्रि (गोचरण), गोचर, गोस्तन, चरण, चतुर, चत्वारि, चतुरिका-स्तंभ, चतुष्टय, चार, चंद्र-यति, जल, जुग (युग) जोधार, तुर्य, दधि, दशरथ-पुत्र, दिशा (दिग, दिश् , दिशि), ध्यान, निर्जर, नीति, पदार्थ (फल), पाठक, बंध, बंधु, बानी (वाणी), बुद्धि, माला, मुक्ति, याम, युग, योजन-क्रोश, रीति, रोहिणी, लोकपाल, वर्ण, वारण-रद, वाणिज, विधि, विष्णु-भुजा (हरि-वसु, हरि-भुज), वेद (श्रुति), सनकादि, संघ, संघात, संज्ञा, सम-घात (?), सुर-गज-रद, सुर-भेद, सेनांग, स्तवक, संप्रदाय।

पाँच (५)—अंग, अक्ष, अनिल (पवन, प्राण, मरुत, मारुत, वात, वायु, समीरण), अर्थ, असु (प्राण), अनुत्तर, आचार, इषु (नाराच, पत्री, बाण, मार्गण, विशिख, शर, शस्त्र, शिलीमुख, सायक, स्मर-बाण), कन्या, करणीय, करांगुलि, काम-गुण, गव्य, गति, गिरि, चर, ज्ञान, तत्त्व (भूत), तनुवात, तंतु-सायक, निरात्मा, पर्व, पंच, पंचक, पंचकूल, पंचोत्तर-विमान, परमेष्ठी, पांडव, पाप, प्रणाम, प्रजापति, पृषत्क, भूत, महाकाव्य, महापाप, महामख, महाभूत, महायज्ञ, महाव्रत, माता, मृगशिर, मृगादन, मेरु, यज्ञ, रत्न, वर्ग, वर्ण, वर्त्म, वह्नि, विषय, व्रत, शंभु-मुख (शिव-वदन, हरमुख), शरीर, शस्त्र, श्रम, समिति, सुर, सुरवृक्ष, सुमति, सुपार्श्व-फणि-फण, स्थानक, स्मर-बाण, स्वर, स्वर्ग-व्रताग्नि, स्वाध्याय।

छः (६)—अंग, अलिपद (भ्रमर-चरण, भृंगपद), अंगिरस, अरि (द्विष, द्वेषण, दुर्हृद, रिपु, सपत्न), ऋतु, करभ, काय, कार्त्तिकेय (क्रौंचारि, गुहक), कारक, काल, कुमार-वदन (गुह-मुख, गुहवक्त्र , गुहानन, गुहास्य, भवानीसुतास्य, महासेन-वदन), क्षमा-खंड (खंड), खर, गुण, चक्री (चक्रवर्त्ती), ज्वरासुर, जीव, तर्क, तृण, तैतिल, त्रिशिरानेत्र-नाराणी (?), दर्शन (शास्त्र), देह, द्रव्य, पद, भाषा, भू-खंड, मासार्ध, यति, रति, रस, राग, रामा, लेश्या, वर्ण, वज्र-कोण, वदन, वर्षधर, वेदांग, शर, शिलीमुख, षट्पद, षट्, षट्क, समाय, समास, स्वर, संपत्ति।

सात (७)—अग (अचल, अद्रि, अद्रीश्वर, कुलगिरि, कुल पर्वत, कुलाचल, कुलाद्रि, कुभृत, क्ष्माधर, गिरि, गोत्र, त्रिकूट, नग, पर्वत, भूधर, भूभृत्, महीधर, महीभृत, शिखर, शैल, सप्ताचल), अत्रि, अब्धि (उदधि, जलधि, जलनिधि, तोयधि, मकराकर, रत्नाकर, वारिधि, समुद्र, सागर), अर्क, अश्व (घोटक, तुरंग, तुरग, बाजि, रवि-वाह, वाजी, वाह, ब्रध्न, शक्रवाह, सप्ताश्व, हय), अश्वि, अर्चि (अनल, वह्निशिखा), अंग, आहार्य, ऋद्धि, ऋषि (मुनि, यति), कलत्र, क्षेत्र, खर, गंधर्व, गोत्र, गोदावर्य, चक्रवाल, छंद, त्रिकूट, तत्त्व, तपोधा (तपस्वी), ताल, तुला, तूड, दुर्गति, द्वीप, दुःख, धातु, धान्य (व्रीहि), धी, नय, नयस-संतान, नरक, नाग, (पन्नग), पाताल (रसातल), पार्श्वचिह्न, फणि, मणि, पुर, पुरी, पूर (?), भय, भुवन (लोक), मही, मातृक, मात्रक, राज्यांग, व्यसन, वह्निशिखा, वाडव, वार, व्रीहि, श्रीमुख, सप्त, सप्तपर्णपर्ण, सुख, सुर, स्मर, स्वर।

आठ (८)—अंग (योगांग), अनीक, अनुष्टुभ्, अनेकप (इभ, करी, कुंजर, कुंभी, गयवर, गज, दंतावल, दंती, दिग्गज, दिक्कुंभी, दिक्पाल, द्विप, द्विरद, नाग, नागेंद्र, पन्नग, पुष्कर, मदकल, मंगल, मातंग, यूथप, व्याल, वारण, सिंधुर, स्तंबेरम, हस्ति, हय), अमांगल, अलि, अवलेभ, अष्ट, अहि (अहिकुल, अली, तक्ष, तक्षक, नाग, नागेंद्र, पन्नग, फणी, भर्वी, भुजग, भोगी, व्याल, सर्प), ईशमूर्त्ति (शंभुमूर्त्ति), ऐश्वर्य (भूति), कर्म, करटी, करिवाशक, कलभ, कुलपति, कुंभीपाल, गिरि, तनु (अंग), दंत, दिक्पाल (लोकपाल), दिग्दुरित, दंश, धी, धी-गुण, पक्षी, प्रवचन-माय, प्रभावक, पुष्कर, बुद्धिगुण, ब्रह्म, भोगी, मद, मंगल, याम, यूथपनाथ, योग, योगांग, वसु, विधि, व्याकरण, श्रुति, सिद्धि, सिद्धिगुण, सुर, स्पर्श, हय।

नौ (९)—अंक, अंग, अंड, अंतर, ऊलर, कृतरावणमुंड, केशव, क्रतु, खंड, ख, खग (खेचर, खेट, ग्रह), गुप्ति, गुण, ग्रैवेयक, गौ, गुह, छिद्र (रंध्र), जैन-पद्म, तत्त्व, द्वार, दुर्ग, नंद, नव, नाडी, नाथ, नाम, नारद, नारायण (वासुदेव), निधान, निधि, पवन, प्रतिनारायण (प्रतिवासुदेव), पदार्थ, ब्रह्म-गुप्ति, ब्रह्मवृत्ति, भक्ति, भूखंड, मंगल,

युवा, योगेश्वर, रत्न, रस, राशि, लब्धि, व्याघ्रीस्तन, सुधा-कुंड, शेवधि, संख्या।

दस (१०)—अंगद्वार, अंगुलि, अवतार, अवस्था, आशा (ककुभ्, काष्ठा, दिक्, दिशा), इंदुवाजि (चंद्रवाह, चंद्राश्व), कर्म, छाया, दश, दशा, दुर्ग, दोष, धाता, धुनि, नाभि, पंक्ति, पद्म, प्राण, मुद्रा, यति-धर्म, विश्वेदेव, वायु, रावण-मस्तक, रावण-मुख, रावण-शिरस्, शंभुबाहु, श्रमण-धर्म, हस्तांगुलि, हरि, हरित्।

ग्यारह (११)—अंग, अंगोपांग, अक्षौहिणी, ईश (ईश्वर, कपर्दी, कपालभृत्, गिरीश, त्र्यंबक, चंद्रशेखर, धूर्जटी, पशुपति, पिनाकी, प्रमथपति, भर्ग, भव, भूतेश, महादेव, महेश, महेश्वर, रुद्र, वामदेव, शंकर, शंभव, शंभु, शर्व, शितिकंठ, शिव, शूली, श्रीकंठ, स्थाणु (हर), एकादश, कुंभ, कुरु-भूपति-सेना, जिनोपासक-प्रतिमा, भीम।

बारह (१२)—अनुपेक्षा, अंशुमाली (अब्जिनी-पति, अरुण, अर्क, अर्यमा, अहस्कर, आदित्य, इन, उष्णरश्मि, उष्णांशु, चित्रभानु, जगच्चक्षु, तपन, तरणि, तीक्ष्णांशु, दिनकर, दिनकृत, दिननायक, दिन-मणि, दिवाकर, द्युमणि, धाम-निधि, पतंग, प्रभाकर, पूषा, भानु, भास्कर, भास्वत्, भास्वंत, मार्त्तंड, मिहिर, रवि, लोक-बंधु, विभाकर, ब्रध्न, सविता, सहस्रकिरण, सहस्रांशु, सूर, सूर्य, हरि, हरिदेव), उपांग, कर्म, कामदेव, कार्त्तिकेय-नेत्र (गुहनेत्र, गुहाक्षि, सेनानी-नेत्र), क्षमापति-मंडल (चक्रिनः, चक्रवर्त्तिनः, चक्रि-राजानः, राजमंडल), गुह-बाहु, गुहाधीश, जगती, द्वादश, नेम, पंथ, पाकशासन, बहुमाता, भक्त, भाव, भावना, भिक्षु-प्रतिमा (यति-प्रतिमा), मास, मीन (सफर), यम (विकर्त्तन), यमक, व्यय, शशि, वक्र, बृहस्पति-हस्ता, संक्रांति, सभासद, सारिकोष्ट, हृदयकमल, हरिदेव।

तेरह (१३)—अघोष, अतिजगति, काम, किरण, क्रियास्थान, घोषा, तरुवर, ताल, तांबूल-गुण, त्रयोदश, नदीद्वार, प्रथम-जिन-भव, प्रमाथी, यक्ष, रत्न, रवि, विश्व, विश्वेदेवाः, वैश्वदेवाः, सरोवर।

चौदह (१४)—अश्विनी, इंद्र (आखंडल, जिष्णु, पुरंदर, पुरुहूत, मघवा, शक्र, शतमन्यु, सुरपति, सुरेश, सुनासीर, वज्रिन्, विडौजा), इंद्री,

कुलाकर, गुणमणि, गुणस्थान, चतुर्दश, जम (यम), जीवाजीवोपकरण, देव, त्रिदिव, ध्रुवतारा, नियम, पुरुषान्वय, पूर्व, प्रकृति, भर, भुवन (लोक, विश्व, भूतग्राम, मनु, मार्गणा), यम, रज्जु, रजसूत्र, रत्न, वास्तव, विद्या, विद्या-स्थान, विक्रम, विषय, सूत्र, सुर-भवन, स्रोत, स्रोतस्विनी, स्वप्न ।

पंद्रह (१५)—अहन् (घस्र, दिन, दिवस), चंद्रकला, तिथि, तिथि-संख्या, पक्ष, पंचदश, परमाधार्मिक, वृष ।

सोलह (१६)—अंबिका, अष्टि, इलापति (क्षोणीश, नृप, नरपति, पृथ्वीपति, भूप, भूपति, भूपाल, मेदिनीपति, राजा), इंदुकला (शशिकला, सुधारुचि-कला, हिमकर-कला), उपचार, कला (चंद्र की), चित्रभानु, पार्षद, वयरंभा (?), विद्यादेवी, शृंगार, शुक्रार्चिष, षोडश, सुर, सुरपति, संस्कार।

सत्रह (१७)—अंबुद (घन, जीमूत, मेघ, जलद, वारिद, पयोद), अत्यष्टि, कुंथु, भक्ष (भोजन), मित्र, मेघाब्द, वारि, संयम (संयमभेद), सप्तदश।

अठारह (१८)—अध्याय, अब्रह्म, अष्टादश, जट, तारण, द्वीप, धान्यक, धृति, पापस्थानक, पुराण, प्रवराम (?), भार, विद्या, स्मृति, सेना-भारत ।

उन्नीस (१९)—अतिधृति, एकोनविंशति, ज्ञाताध्ययन, धन्या, पार्थिव, पिंडस्थान, विशेष, संज्ञा ।

बीस (२०)—अर, अनंतचक्षु, करांगुलि, कृति, चक्षु (रावण-चक्षु, दशकंधर-नेत्र), दशकंधर-भुजा (रावण-भुजा), नख (नखर), नर, भुजा (रावण-भुजा), व्यय, विंशति, विंशोपक, विश्वे, श्रीभर्तृकरशाखा, श्रुति (रावण श्रुति) ।

इक्कीस (२१)—अमरलोक (अमरालय, त्रिदशालय, दिव, देवालय, निर्जरालय, विबुधालय, स्वर्ग, सुरलोक, सुरालय), उत्कृति, एकविंशति, प्रकृति, सर्वजित् ।

बाईस (२२)—कृति, जाति, द्वाविंशति, परीषह, बाईसी (पाति-शाही-सेना) ।

तेईस (२३)—अक्षौहिणी, जरासंध, त्रयोविंशति, विकृति ।

चौबीस (२४)— अवतार, अर्हत्, गायत्री, चतुर्विंशति, जिन, तत्त्व, सिद्ध, सुकृति।

पचीस (२५)—तत्त्व, पंचविंशति, प्रकृति।

छब्बीस (२६)—उत्कृति।

सत्ताईस (२७)—उडु (ऋक्ष, तारक, तारा, धिष्ण्य, नक्षत्र)।

अट्ठाईस (२८)—लब्धि।

तीस (३०)—दल, सद्दल।

बत्तीस (३२)—दंत (दशन, द्विज, रद, रदन), द्वात्रिंशत्, नरलक्षण।

तेंतीस (३३)—अमर (त्रिदश, दानवारि, दिवौकस, देव, देवता, निर्जर, विबुध, सुर), त्रयस्त्रिंशत्, त्रिविष्टप, बुध।

छत्तीस (३६)—रागिनी, वर्गमूल।

चालीस (४०)—नरक।

अड़तालीस (४८)—जगती।

उनचास (४९)—अनिल (पवन, पवमान, प्रभंजन, मरुत्, वात, वायु, समीर), तान।

चौंसठ (६४)—स्त्री-कला।

अड़सठ (६८)—तीर्थ।

बहत्तर (७२)—पुरुष-कला।

चौरासी (८४)—जाति।

सौ (१००)—अब्ज-दल (अब्दल, कमल-दल, शतपत्र-पत्र), अर्जुन-सुत, अस्र-स्रक्, कीचक, जपमाला, जलधि-भोजन (?), धृतराष्ट्र-पुत्र (धृतराष्ट्र-सुत), पुरुषायु, मणि-हार, रावणांगुलि, शक्रयज्ञ, शतभिषा, शत-मुख (?), स्रज्।

हजार (१,०००)—अंबुजच्छद (कमल-दल, पंकज-दल), अहिपति-मुख (शेष-शीर्ष), इंद्र, इंद्रचक्षु (इंद्रदृष्टि, इंद्रनेत्र), अर्जुन-बाण, अर्जुन-भुज (अर्जुन-बाहु), कार्त्तवीर्यशिर, गंगामुख (जाह्नवी-वक्त्र), पुणातरदृष्टचंद्र, रवि-कर, वर्ष (?), विश्वामित्र-आश्रम, सहस्र, सामवेद-शाखा।

दस हजार (१०,०००)—अयुत ।

लाख (१,००,०००)—प्रयुत ।

दस करोड़ (१०,००,००,०००)—अर्बुद ।

परिशिष्ट १

मास-पक्ष-वार के पर्यायवाची नाम

मास

चैत्र—चैत, चैत्रिक, मधु ।

वैशाख—माधव, राध, वैसाख ।

ज्येष्ठ—जेठ, शुक्र, तपन ।

आषाढ़—शुचि, असाढ़, हाड़ ।

श्रावण—नभ, श्रावणिक, सावन, नभ, श्रुचौ ।

भाद्रपद—प्रौष्ठपद, भाद्र, भादों, भादव, नभस्य ।

आश्विन—इष, अश्वयुज, क्वार, कुआर ।

कार्त्तिक—कार्त्तिकिक, बाहुल, कातिक, ऊर्ज्ज ।

मार्गशीर्ष—मगशिर, मगसिर, अग्रहण, अगहन, मार्ग, आग्रहायनिक, सहस ।

पौष—सहस्य, पूस, तैष ।

माघ—तप, माह ।

फाल्गुन—फाल्गुनिक, तपस्य ।

पक्ष

कृष्णपक्ष—वदि, असित, बहुल, मेचक ।

शुक्लपक्ष—सुदि, विसद, वलक्ष, धवल, सित, श्वेत, उजुआला ।

वार

रविवार—सूर्य, अर्क, इतवार, इत्यादि सूर्यवाची सभी नाम ।

सोमवार—चंद्र इत्यादि चंद्रवाची सभी नाम ।

मंगलवार—अंगारक, कुज, भौम, भूमिसुत, लोहितांग।

बुधवार—सौम्य, चंद्रसुत, चंद्रज, जारज, रोहिणेय, ज्ञ, विद्, विदिच ।

बृहस्पतिवार—गुरु, सुरगुरु, आंगिरस, सुराचार्य, गीष्पति, जीव, धिषण, वाचस्पति ।

शुक्रवार—कवि, काव्य, दैत्यगुरु, उशना, भार्गव, दैत्यराज, आदिदेव, गुरुचित्र, शिखंडिन् , इज्य ।

शनिवार—शनैश्चर, मंद, मंदचाल, छायासुत, सौरि, रविनंदन, अर्कि, मंदग्रह ।

परिशिष्ट २

सांकेतिक ग्रंथकारनाम

ग्रंथकार अपने नामों का भी निर्देश नानाविध संकेतों द्वारा किया करते थे । उनके कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं । जैन ग्रंथकारों में इस परिपाटी से नामनिर्देश सबसे प्राचीन जिनदासगणि महत्तर (वि० सं० ७३३) ने अपनी निशीथचूर्णि में किया है—

"ति चउ-पण-अट्टम वग्गा, ति-पण-ति-तिग अक्खरावतेतेसिं ।
पढम ततिएहिं ति-दुसर जुएहिंणामं कयं जस्स ॥
गुरु दिण्णं च गणित्तं महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं ।
तेण कए सा चूण्णी, विसेस नामाणि सीहस्स ॥"

इस गाथा में जिणदास नाम सूचित किया है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अ, क, च, ट, त, प, य, श ये ८ वर्ग हैं । इनमें तृतीय, चतुर्थ, पंचम और अष्टम वर्ग के अनुक्रम से तृतीय, पंचम, तृतीय और फिर तृतीय अक्षर अर्थात् ज ण द स इन अक्षरों में से प्रथम ज और तृतीय द के साथ प्रथम वर्ग के तृतीय और द्वितीय अक्षर (मात्रा) लगाने से 'जिणदास' नाम निकलता है । इन्होंने अपनी नंदिचूर्णि में भी अपना नाम "णिरेणगामत्त महासदाजिका" इन बारह अक्षरों से सूचित किया है, जिनको लौट पौट कर क्रम में रखने से 'जिणदासगणिणा महत्तरेण' नाम निकल जाता है ।

पुष्पमालाप्रकरण के कर्त्ता हेमचंद्र सूरि ने अपना नाम इस प्रकार लिखा है—

हेम-मणि-चंद-दप्पण-सूरि-रिसी पढम वन्न नामेहिं।
सिरि अभयसूरि सीसेहिं, विरइयं पगरणं इणमो ॥ ५०१ ॥

इनमें से "हेम मणिचंद दप्पण सूरि रिसी" इनका प्रथमाक्षर लेने से नाम निकलता है।

विवेकविलास में जिनदत्त सूरि ने अपने गुरु 'जीवदेव' का नाम यों सूचित किया है—

जीववत् प्रतिमा यस्य, वचो मधुरिमाञ्चितम्।
देहं गेहं श्रियस्तं स्वं, वंदे सूरिवरं गुरुम्॥

जिनप्रभ सूरि रचित सिद्धांतस्तव के अवचूरि-कर्त्ता ने अपने गुरु का नाम इस प्रकार लिखा है—

ध्यायन्ति श्री विशेषाय, गतां वैशालयेनयम्।
स्तुतिद्वारा जयश्रीदः श्रीवीरगुरुगौरवः॥

(श्रीविशालराजगुरु)

प्रश्न एकषष्टिशतक में जिनवल्लभ सूरि ने अपने गुरुओं का नाम इस प्रकार लिखा है—

कः स्यादम्बुधिवारिपाय रुचिते क्व द्वीपिनं हन्त्ययं
लोकः प्राह इयं प्रयोगनिपुणैः कः शब्दधातुः स्मृतः।
ब्रूते पालयिताऽत्र दुर्द्धरतरः कः क्षुभ्यतेऽम्भोनिधे-
र्ब्रूहि त्वं जिनवल्लभस्तुतिपदं कीदृग्विधाः के सताम्॥ १ ॥

उत्तरः—श्रीमद्गुरुवो श्रीजिनेश्वरसूरयः।

पाके धातुरवाचिकः क्व भवतां भीरोर्मनः प्रीतये
सालंकारविदग्धया वद कया रज्यन्ति विद्वज्जनाः।
पाणौ किं मरुजिद् बिभर्ति भुवि ते ध्यायन्ति के वा सदा
के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसत्श्रुता विश्रुताः॥ १ ॥

उत्तर—श्रीमद् अभयदेवाचार्याः।

उपर्युक्त जिनवल्लभ सूरि ने संघपट्टक में अपना नाम इस प्रकार सूचित किया है—

विभ्राजिष्णुमगर्व्वमस्मरमनासादं श्रुतोल्लंघने
सज्ज्ञानद्युमणिं जिनं वरवपुः श्रीचन्द्रिकाभेश्वरम् ।
वन्दे वर्णमनेकधा सुरनरैः शक्रेण चेनश्छिदं
दम्भारिं विदुषां सदा सुवचसाऽनेकान्तरंगप्रदम् ॥३१॥

इस श्लोक के तीन चरणों के तीसरे एवं सत्रहवें अक्षर को लेने से 'जिनवल्लभेन' शब्द निकलता है।

सं० १२९५ में रचित गणधरसार्द्धशतकबृहद्वृत्ति में —

का दौर्गत्यविनाशिनी हरिविरिंच्यु [च्च ?]प्रवाची च को
वर्णः को व्यपनीयते च पथिकैरत्यादरेण श्रमः ।
चन्द्रः पृच्छति मन्दिरेषु मरुतां शोभाविधायी च को
दाक्षिण्येन नयेन विश्वविदितः को भूरि विभ्राजते ॥ १ ॥
(सा ऊ म् अध्वजः = सोमध्वजः)

सोमतिलकसूरि ने अपने एक स्तोत्र में नाम इस प्रकार दिया है—

यस्त्वां श्रीजिन ! सूरितोन्मदमनश्चोर प्रणौति श्रमं
जित्वा सोढगरिष्ठकष्टदहनं शोचिष्णुभालद्युतम् ।
दत्ताऽमर्त्यपवित्रसंमद ! पठन् कान्तं विशंकः स्तवं
वन्याह्नाय भवान् जिनः प्रददता मन्येऽपि तस्मै शिवम् ॥१२॥

इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में से प्रत्येक का तीसरा, सत्रहवाँ, छठा और चौदहवाँ अक्षर एकत्र करने से 'श्रीसोमतिलकसूरिविरचित' नाम निकलता है।

तीर्थकल्प में जिनप्रभ सूरिजी ने—

कोऽर्थं (क्वार्थं स्तृ) जेत् किं प्रतिषेधवाचि ? पदं ब्रवीति प्रथमोपसर्गः ?
कीदृग् निशा ? प्राणभृतां प्रियः कः ? क ग्रंथमेतं रचयांप्रचक्रुः ॥१॥
उत्तर—श्रीजिनप्रभसूरयः ।

अस्वाध्याय समूल (?) में कवि हीर ने—

अंतवर्ग अंतक्षर जे, च्यार मात्र दीजे तेह ।
सतम वर्गबीज अक्षरै, तव कविनामा कहियो इणपरि ॥ १ ॥
जैन गुर्जर कविओ भा० १ ।

पहेलो अक्षर लाभ नो एमा, बीजो भव नो जाणी।
त्रीजो पुण्यवंत बीजलुँ ए, आगलि समय ठवेइ ॥

(देवराज वछराज चौपइ 'लावण्य समय' कृत)

कवि ऋषभदासकृत हीरविजयसूरिरास में किसी किसी कवि ने तो अपना और अपनी कृति का परिचय सभी संकेत में ही दिया है। यथा :—

पाटण माँहि हुओ नर जेह, नात चोरासी पोषे तेह।
मोटो पुरष जगे तेह कहेस, तेहनी नात ने नामे देस ॥ १ ॥

(गूर्जर देश)

आदि अक्षर बिन बीबे जोय, मध्य बिना सहुकोने होय।
अंत्य अक्षर बिन भुवन मझारी, देखी नगर नाम बिचार ॥ २ ॥

(खंभात)

खडग् तणोधुरि अक्षर लेह, अक्षर भरम नो बीजो जेह।
त्रीजो कुसुम तणो ते जुही, नगरी नायक कीजे सही ॥ ३ ॥

(खुरम पातशाह)

निसांण तणो गुरु अक्षर लेह, लघु दोय गण पति ना जेह।
भेली नाम भलुं जे थाय, कवि केरी ते कहुं पिताय ॥ ४ ॥

(सांगण)

चंद अक्षर ऋषि घर थी लेह, मेषला तणो नयणमो नेह।
अक्षर भवनमो शालि भद्र तणो, कुसुमदाम नो वेदमो भणे ॥ ५ ॥
विमल वसही नो अक्षर वाणमो, जोडी नाम करोको भयो।
श्रावक सोय रस नीपात, प्रागवंश वीसो विख्यात ॥ ६ ॥

(ऋषभदास)

दिशि आगल लेइ इंद्रिय (इंद्रह) धरो, काल सोय ते पाछल करो।
कवण संवत्सर थापेवली, त्यारे रास कर्यो मन रली ॥ ७ ॥

(१६८५)

वृक्ष माहि वडो कहेवाय, जेणे छांहि नर दुष्ट पलाय।
ते तरुवर ने नामे मास, कीधो पुण्य तणो अभ्यास ॥ ८ ॥
[आसो (ज) मास]

आदि अक्षर बिन को भय करो, मध्य विनास हुए आदरो।
अंति बिना सिरि रावण जोया, अजुवाली तिथि ते पण होय ॥ ९ ॥
(शुक्ला दसम)

सकल देव तणो गुरु जेह, घणा पुरष ने वल्लभ तेह।
घरे आव्यो करी जय जयकार, तेणे वारे कीधो विस्तार ॥ १० ॥
(गुरुवार)

दीवाली पहेलु पर्वज जेह, उदाइ केडे नृप बेठो तेह।
बेहु मली होय गुरु नु नाम, समये सीझे सघला काम ॥ ११ ॥
(विजयाणंद सूरि)

महासेनवदनाहिमकरहरि, विक्रम नृप संवत्सरि।
जेम मधु नामि मास कहिजइ, तेथी गुहमाह मास लहीजइ ॥ ९३ ।
तिथि संख्या त्रिक वर्गि जाणे, यमी जनक वलिवार वखाणे।
शिति पक्षि उडु यामक लहये, सिद्धि ये गते माटइ कहिये ॥ ९४ ॥
(सुघनहर्ष कृत मंदोदरी-रावण-संवाद) जै० गु० क० भा० १, पृ० ५०६।

'देवानांप्रिय' पद का अर्थ

(विद्वान् और मूर्ख)

[लेखक—श्री ईश्वरचंद्र शर्मा मौद्गल्य]

आजकल 'देवानांप्रिय' पद मूर्ख अर्थ में बहुत प्रसिद्ध है। प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने अनभिज्ञ के अर्थ में इसका प्राय: प्रयोग किया है। भारत ही नहीं, अन्य देशों के संस्कृतज्ञ लोगों में भी प्रसिद्ध श्रीभट्टोजि दीक्षित की सिद्धांतकौमुदी के अनुसार 'देवानांप्रिय' पद का अर्थ मूर्ख है। 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे'* इस वार्तिक के अनुसार यदि वाच्य अर्थ मूर्ख हो तो 'देवानां' पद की षष्ठी विभक्ति का 'प्रिय' उत्तर पद होने पर लोप नहीं होता। पर यदि वाच्य अर्थ मूर्ख न होकर विद्वान् हो तो अलुक् समास नहीं रहता है, षष्ठी विभक्ति का लोप होकर देवप्रिय पद बन जाता है। परंतु महाभाष्य में वार्तिक का पाठ मूर्ख पद से रहित है। इसका आश्रय लेकर श्री सत्यव्रतजी सामश्रमी निरुक्तालोचन† में भगवान् पतंजलि को शाक्य बुद्ध का परवर्ती सिद्ध करते हुए कहते हैं कि पहले पाणिनि के काल में देवानां प्रिय ये दो पद बिना समास के यज्ञ-पशु के वाचक थे। यज्ञ में देवताओं के लिये पशुओं की बलि दी जाती थी, इसलिये पशुओं को देवानांप्रिय अर्थात् देवताओं का प्यारा कहा जाता था। इसके अनंतर कात्यायन के काल में दोनों पद समस्त होकर एक पद बन गए और पशुतुल्य मूर्ख में प्रयोग होने लगा। तब आर्यों ने बौद्धों को देवानांप्रिय कहकर मूर्ख बतलाया। इसके अनंतर कुछ काल में इस पद को प्रशंसावाचक समझकर बौद्धों ने अपना लिया और अपने नाम के साथ इसका प्रयोग आरंभ कर दिया। बौद्ध काल के व्यवहार को देखकर भाष्यकार ने मूर्ख पद को वार्तिक से पृथक् कर

---

* सिद्धांतकौमुदी, बालमनोरमा सहित (लाहौर); पृ० ६४६।

† निरुक्तालोचन (कलकत्ता, १९०७ ई०), पृ० ७०।

दिया। अब विचार कीजिए। भाष्यकार वार्तिक को मूर्ख पद के बिना पढ़ते हैं। इस दशा में भाष्य से पहले वार्तिक में मूर्ख पद बिना किसी प्रमाण के नहीं माना जा सकता। भाष्य दीक्षित आदि का मान्य है। उसके प्रतिकूल रहने पर सूत्र या वार्तिक का अन्य पाठ शुद्ध नहीं है। कोई प्रबल बाधक प्रमाण न हो तो प्राचीन पाठ ही शुद्ध होता है। वार्तिककार से पहले देवानां और प्रिय इन दोनों पदों का यज्ञ-पशु के लिये प्रयोग होता था, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। आरंभ में वार्तिक मूर्ख पद के बिना था। पीछे के लेखकों ने मूर्ख पद मिला दिया। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के भिन्न भिन्न काल के अनुसार अर्थ के बदलने में मूलभूत आधार नहीं मिलता। यज्ञ-पशु के अर्थ में देवानांप्रिय पद का प्रयोग हो सकता है, व्युत्पत्ति के प्रतिकूल नहीं; पर इसी अभिप्राय से वार्तिक की रचना नहीं मानी जा सकती।

निरुक्तालोचन की रचना के एक वर्ष के अनंतर श्री कीलहार्न ने* इस विषय में अपना मत भिन्न रूप में प्रकाशित किया। उनके अनुसार देवानांप्रिय पद मूर्ख नहीं, बुद्धिमान् गुणी का वाचक है। मूर्ख अर्थ पीछे का है। भगवान् शंकराचार्य ने वेदांतसूत्र† के भाष्य में इसका प्रयोग मूर्ख अर्थ में किया है। महाभाष्य का प्रयोग मूर्ख अर्थ में है, पर वह विपरीत लक्षणा से है। मनोरमा, तत्त्वबोधिनी और शब्देंदुशेखर के कर्ताओं ने मूर्ख ही वाच्य माना है। पहले पहल मूर्ख अर्थ का उल्लेख प्रक्रियाकौमुदी में हुआ। हेमचंद्र ने शब्दानुशासन में इस पद की सिद्धि करते हुए मूर्ख अर्थ नहीं लिखा। बाण‡ ने दो बार इस पद का प्रयोग प्रशंसा प्रकट करने के लिये किया है।

---

* जर्नल आव दी रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटेन (१९०८ ई०) पृष्ठ ०४-५।

† वेदांतसूत्रभाष्य (१।२।८)

‡ हर्षचरित (निर्णयसागर) पृ० २५, २३९।

इससे प्रतीत होता है कि श्री कीलहार्न के अनुसार विद्वान् गुणी मनुष्य देवानांप्रिय कहा जा सकता है। सीधे ढंग से मूर्ख को देवानांप्रिय नहीं कह सकते। हाँ, विपरीत लक्षणा से मूर्खता दिखलाने के लिये इसका प्रयोग हो सकता है। अज्ञानी को पंडित कहकर प्रायः चिढ़ाते हैं। दीक्षित आदि की परंपरा के अनुसार मूर्ख ही वाच्य अर्थ है, विद्वान् अर्थ में प्रयोग भूल है। श्री कीलहार्न के अभिप्राय से वाच्य अर्थ विद्वान् ही है, मूर्ख नहीं। वाच्य न होने पर भी मूर्ख अर्थ में विपरीत लक्षणा से प्रयोग हो सकता है। पहले परंपरा का विचार कर लीजिए। इस पक्ष में दीक्षित के अनुसार वार्तिक में मूर्ख पद का संबंध है। इस प्रकरण में शब्देंदुशेखर के व्याख्याकार श्री भैरव मिश्र* कहते हैं कि भाष्य में मूर्ख पद नहीं दिखाई देता तो भी बहुधा प्रयोग देखने के कारण मूर्ख को वाच्य अर्थ कह दिया गया है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तजी ने अनेक ग्रंथों को संशोधन करके विस्तृत टिप्पणियों के साथ प्रकाशित कराया है। वे वार्तिक में मूर्ख पद नहीं मानते। पर मूर्ख अर्थ को उपपन्न करने के लिये अन्य युक्ति देते हैं। उनका कहना है†—यह वार्तिक 'षष्ठ्या आक्रोशे' इस सूत्र के साथ है इसलिये 'आक्रोशे' का संबंध वार्तिक के साथ है। अर्थात् देवानांप्रिय पद में षष्ठी का लुक् तभी नहीं होता जब निंदा की प्रतीति होती है। पर इस सूत्र के साथ संबंध होने से वार्तिक में निंदा का सूचित होना ठीक नहीं है। आमुष्यायण आदि पदों में अलुक् करनेवाले वार्तिकों का इसी सूत्र के साथ संबंध है। पर वे निंदा की सूचना नहीं देते। आमुष्यायण पद का अर्थ है अमुक का पुत्र। इतने से निंदा नहीं होती। वार्तिक में निंदा का संबंध नहीं है, इसके लिये और हेतु भी है। निंदा के प्रकाशित करनेवाले कुछ पदों की सिद्धि पाणिनि के सूत्रों से होती है। पद सीधे-सादे ढंग से निंदा नहीं सूचित करते। सूत्रों में भी निंदा का कारण

---

* लघुशब्देंदुशेखर चंद्रकला सहित (बनारस), पृ० १६३।

† सिद्धांतकौमुदी, म० म० शिवदत्तकृत टिप्पणी सहित, पृ० १६०।

नहीं कहा गया। भाष्यकार ने इस प्रकार के स्थलों में निंदा के हेतु को प्रकट किया है। एक सूत्र है—'खट्वा क्षेपे' (२।१।२५)। इसका उदाहरण है खट्वारूढः। इसका सीधा अर्थ है खाट पर चढ़ा हुआ। खाट पर चढ़ने से कोई बुराई नहीं उत्पन्न होती, इसलिये भाष्यकार ने कहा कि शिक्षा समाप्त करके समावर्तन-संस्कार के अनंतर गुरुओं की अनुमति लेकर खाट पर चढ़ना चाहिए। जो इस नियम को तोड़ दे उसे खट्वारूढ कहते हैं। इसी प्रकार 'ध्वाङ्क्षेण क्षेपे' (२।१।४२) और 'क्षेपे' (२।१।४७) इन सूत्रों के उदाहरण क्रम से हैं—तीर्थकाकः और अवतप्ते नकुलस्थितं त एतत्। यहाँ भी काक और नकुल के कामों की समानता से निंदा प्रकट की गई है। इस शैली को देखते हुए सहज ही अनुमान होता है कि यदि वार्तिक में निंदा का कुछ भी संबंध होता तो भाष्यकार मूर्खता को प्रकट करने-वाली समानता का अवश्य उल्लेख करते। फिर खट्वारूढः इत्यादि समस्त पदों के एक एक पद जिस अर्थ को बताते हैं, उनसे यदि निंदा नहीं प्रतीत होती तो स्तुति भी नहीं प्रकट होती। पर देवानां और प्रिय पद का जो अर्थ अत्यंत प्रसिद्ध होने से पहले मन में आता है वह मूर्ख अर्थ के प्रतिकूल है। देवताओं का प्रिय कोई विद्वान् हो सकता है। इस दशा में खट्वारूढ़ इत्यादि पदों से भी बढ़कर देवानांप्रिय पद में मूर्ख को प्रकाशित करनेवाली समानता का उल्लेख करना आवश्यक है। भाष्यकार ने इस प्रकार की समानता का निरूपण नहीं किया। इसलिये देवानांप्रिय पद खट्वारूढ इत्यादि के समान केवल निंदनीय मनुष्य का वाचक नहीं है। विद्वान् को देवानां-प्रिय कहा जाय इसमें पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि का विरोध नहीं है।

ऋचा में 'देवानांप्रिय' कहकर पवमान सोम की प्रशंसा की गई है। पर वहाँ पर देवानां और प्रिय दो पद हैं, एक पद नहीं। समास से पहले जो अर्थ पदों से प्रतीत होता है, वह समास होने पर स्थिर रहता है। ऋचा यह है—

> अस्मान् समर्ये पवमान चोदय दक्षो देवानामसि हि प्रियो मदः।
> जहि शत्रूँरभ्याभन्दनायतः पिबेन्द्र सोममवनो मृधो जहि॥
>
> (ऋ० ९।८५।२)

असि और हि पद के बीच में होने से स्पष्ट है कि देवानां और प्रियः में समास नहीं है। सम्राट् अशोक ने लेखों में अपने लिये देवानांप्रियः, प्रियदर्शी इन विशेषणों का प्रयोग स्तुति के लिये किया है।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि देवानांप्रियः लिखकर जहाँ प्रशंसा की गई है, वहाँ समस्त एक पद नहीं है। देवानां और प्रियः दो पद हैं और वे समास न होने पर विद्वान् के वाचक हो सकते हैं। अशोक और बाण के प्रयोग बिना समास के हैं। समास में अलुक् होने पर और समास न होने पर पद का आकार एक सा रहता है, पर यदि समास के बिना पद विद्वान् अर्थ को कह सकते हैं तो समास में उनकी शक्ति चली नहीं जाती। जो अर्थ समास के न होने पर है वही समास होने पर क्यों न माना जाय? देवानांप्रिय से मिलता-जुलता प्रयोग विद्वान् के अर्थ में और भी है। बौधायन गृह्यशेष सूत्र में कहा है—'यो देवस्य प्रियो विद्वान् देवस्य पदमाप्नुयात्' (१।२२।१५)। देवस्य प्रियः और देवानां प्रियः में केवल एकवचन और बहुवचन का भेद है।

अर्थ के विषय में भी अब परंपरा के प्रचलित पक्ष की आलोचना कर ली जाय। दीक्षित ही नहीं, हेमचंद्र, धनंजय और त्रिकांडशेष के कर्ता पुरुषोत्तम ने अपने कोषों में इसे अनभिज्ञ का पर्याय माना है। क्या यह सब प्रमाद है? कुछ गंभीर विचार करते ही ज्ञात हो जाता है कि मूर्ख अर्थ में भी क्लेश नहीं है। तीन प्रकार से मूर्ख अर्थ प्रकाशित हो सकता है और उसमें लक्षणा का सहारा नहीं लेना पड़ता। पहला पक्ष कैयट का है, दूसरा दीक्षित की मनोरमा का और तीसरा निरुक्तालोचन से सूचित होता है। व्याकरण-ग्रंथों के लेखकों में पहले पहल कैयट ने मूर्ख अर्थ का प्रतिपादन किया। इनके मत में देव शब्द मूर्ख का वाचक है। जो देवों अर्थात् मूर्खों का प्रिय है, वह देवानांप्रिय है। शब्देंदुशेखर में इस पक्ष का अनुमोदन है; परंतु यह अत्यंत क्लिष्ट कल्पना है। देव शब्द से देवताओं का बोध होता है और वे विद्या और आचार में बढ़े-चढ़े होने के कारण मनुष्यों से ऊँचे हैं। केवल योग के बल से मंदबुद्धि को देव कहा जा सकता है पर रूढ़ि इसके प्रतिकूल है। विद्या आदि गुणों से संपन्न देवताओं को देव कहने में

योग भी है, रूढ़ि भी है। मनोरमा के अनुसार देव पद प्रसिद्ध देवताओं का वाचक है। देवों की मूर्खों पर प्रीति है। मूर्ख लोग देवों के पशु हैं। इसी को तत्त्वबोधिनी* में स्पष्ट किया है। जब तक लोगों को ब्रह्म-ज्ञान नहीं है, तब तक वे यज्ञों में पुरोडाश आदि देकर देवों को तृप्त करते रहते हैं। ब्रह्मज्ञान होने पर वे यज्ञ करना छोड़ देते हैं। यज्ञों के कर्ता लोग देवपशु हैं। यही बात बृहदारण्यक† उपनिषद् में कही है। देवों को मनुष्यों का ज्ञानी होना प्रिय नहीं है। समझदार लोग दूसरों की अनभिज्ञता से लाभ उठाते हैं। यही देव करते हैं। इस प्रकार मूर्ख देवों का प्रिय है। तीसरा पक्ष देखिए। यज्ञ में देवताओं के लिये पशुओं का वध किया जाता है। आहार में देवताओं का स्वाभाविक प्रेम है, इसलिये पशु देवताओं के प्रिय हैं। पशुओं के समान मूर्ख होने के कारण अज्ञानी भी देवताओं के प्रिय कहे जाते हैं।

मनोरमा और निरुक्तालोचन के पक्षों का अंतर ध्यान देने योग्य है। मनोरमा के पक्ष में मूर्ख अज्ञानी होने के कारण देवों का प्रिय है। बलि-पशु की समानता प्रिय होने में हेतु नहीं है। और निरुक्तालोचन के अनुसार मूर्ख मूर्खता के कारण देवों का प्रिय कहा जाता है। उसके लिये देवों के प्रेम की आवश्यकता नहीं है। बलि-पशु आहार होने के कारण देवों का प्रिय है, पर मूर्ख को जब देवों का प्रिय कहा जाता है, तब पशुओं के समान विवेकहीनता के कारण; पशु के समान देवों की स्वार्थपूर्ति का साधन है इसका ध्यान नहीं रखा जाता। महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तजी कहते हैं‡— 'इतराभ्योपि दृश्यन्ते' इस सूत्र के भाष्य में 'भवान् दीर्घायुः देवानांप्रियः आयुष्मान्' इन पदों का पाठ है। दीर्घायु और आयुष्मान् बड़ी आयुवाले को बतलाते हैं। इन दोनों के मध्य में पाठ होने से देवानांप्रिय को भी दीर्घायु का पर्याय समझना चाहिए। किंतु इस कल्पना में कोई तर्क नहीं है।

---

* सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनीसहित, (निर्णयसागर, बंबई) पृ० २१३।

† बृहदारण्यकोपनिषत्, अ० ३ ब्रा० ४।

‡ सिद्धांतकौमुदी टिप्पणीसहित पृ० २३५।

न देव पद बड़ी आयु की सूचना देता है न प्रिय पद। बीच में पाठ हो जाने से अर्थ नहीं उलट जाता। अब यह स्पष्ट है कि दोनों अर्थ वाच्य हैं, विद्वान् और मूर्ख। हेमचंद्र, पुरुषोत्तम और धनंजय ने केवल मूर्ख अर्थ लिखा है। इन कोषकारों के काल में मूर्ख अर्थ अत्यंत प्रसिद्ध हो चुका था और विद्वान् अर्थ छिप चुका था। इसलिये इनके आधार पर विद्वान् अर्थ को अयुक्त नहीं ठहराया जा सकता। हर्षचरित के व्याख्याकार महाकवि चूड़ामणि शंकर ने इसको स्पष्ट ही पूजावाचक कहा है। इसी प्रकार शाकटायन व्याकरण में व्याख्याकार अभय सूरि विद्वान् और मूर्ख दोनों अर्थों का निर्देश करते हैं। महाभाष्य में एक स्थान पर देवानांप्रिय कहकर सूत ने वैयाकरण का उपहास किया है। यहाँ अनभिज्ञ अर्थ भी वाच्य हो सकता है और विपरीत लक्षणा से भी प्रयोग माना जा सकता है। निश्चित रूप से केवल मुख्य शक्ति या लक्षणा का स्वीकार करना अनुचित है।

प्रयोग के काल पर दृष्टि डालिए। इससे भी दोनों अर्थों का प्रचार पाया जाता है। अशोक का काल ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी कहा जाता है। उनके लेख में यह प्रयोग पूजार्थक है। उस काल में यह केवल प्रशंसा की सूचना देनेवाला रहा हो और इससे पीछे मूर्ख अर्थ में रूढ हो गया हो इस संभावना को भी कोई स्थान नहीं है। भगवान् शंकराचार्य का काल अनेक विचारकों के अनुसार ईसा का सप्तम शतक है। वे मूर्ख अर्थ में प्रयोग करते हैं। इसी काल के बाण प्रशंसा के लिये प्रयोग करते हैं। शंकराचार्य ही नहीं, उनसे कुछ ही काल के अनंतर ईसा की ८वीं शताब्दी में शांतरक्षित ने* भी मूर्ख अर्थ में प्रयोग किया। महान् बौद्ध विद्वान् शांतरक्षित अशोक के लेखों से ईसा की ८वीं शताब्दी में अवश्य परिचित रहे होंगे। अशोक के लेखों में प्रशंसासूचक प्रयोग देखकर भी मूर्ख अर्थ में प्रयोग करनेवाले शांतरक्षित दोनों अर्थों को स्वीकार करते हैं, यह सहज ही

---

* वादन्याय, पृ० ४३–४७ (बनारस)।

प्रतीत होता है। अर्वाचीन काल में इसका मूर्ख अर्थ में इतना प्रचार हो गया कि प्रक्रियाकौमुदी* में वार्तिक के साथ मूर्ख पद का संबंध कर दिया गया। प्रसाद नामक इसकी व्याख्या में इसकी पुष्टि की गई। इसके अनंतर भट्टोजि दीक्षित आदि इसी के पीछे चले।

उपर्युक्त दोनों अर्थ सिद्ध हुए। एक बात रह गई। दोनों अर्थों में यदि देवानांप्रिय पद का प्रयोग है, तो षष्ठी विभक्ति का लुक् होकर देवप्रिय इस समस्त पद को शुद्ध कहेंगे या अशुद्ध? उत्तर सीधा है। यदि वार्तिक से लुक् का निषेध नित्य है तो इस प्रकार का प्रयोग व्याकरण के विरुद्ध है और यदि वार्तिक की आज्ञा अटल न हो तो शुद्ध मान लेना चाहिए। पर देवानांप्रिय इस अलुक् समासवाले और देवप्रिय इस लुक्समासवाले पद का इतना भेद रहेगा कि पहले का प्रयोग दोनों अर्थों में पाया जाता है और पिछले को केवल विद्वान् के साथ लगाते हैं। मूर्ख को कभी देवप्रिय नहीं कहा गया।

निष्कर्ष यह कि दीक्षित के मत में विद्वान अर्थ नहीं है, मूर्ख ही वाच्य है। श्री कीलहार्न के अनुसार मुख्य अर्थ विद्वान है, मूर्ख अर्थ मुख्य नहीं। लक्षणा से उसका ज्ञान होता है। मैंने निरूपण किया है कि दोनों अर्थ मुख्य हो सकते हैं। मूर्ख अर्थ में लक्षणा नहीं है।

---

* श्री कमलाशंकरजी त्रिवेदी ने प्रक्रियाकौमुदी की भूमिका में प्रक्रियाकौमुदी के कर्ता का काल ईसा की चौदहवीं सदी का उत्तरार्ध माना है।

घनानंद का एक अध्ययन

[लेखक—श्री शंभुप्रसाद बहुगुना]

नाम, जीवनी और कृतियों का विवेचन

कवियों की जीवनी के स्पष्ट प्रमाण न मिलने पर जब एक ही नाम के अनेक कवि साहित्य में पाए जाते हैं तो उनके विषय में बड़ी गड़बड़ी होती है। एक की रचनाएँ दूसरे के नाम के साथ उसी प्रकार जुड़ जाती हैं, जिस प्रकार एक की जीवन-घटनाएँ दूसरे के साथ आ मिलती हैं। फिर उन्हें उपयुक्त साधनों के अभाव में अलग अलग करना कठिन ही नहीं, असंभव सा हो जाता है। साहित्य के इतिहास में यह कठिनाई अनेक कवियों के विषय में पाई जाती है। घनानंद ऐसे ही कवियों में से हैं। उनके विषय में ऐसी कठिनाई घनआनंद, आनंदघन तथा आनंद नामों के साम्य के कारण आई है और इस कठिनाई को बढ़ाने में इन नामों के कवियों का एक ही समय के आसपास थोड़ा-बहुत अंतर से होना और भी अधिक सहायक हुआ है।

शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में घनआनंद, आनंदघन और आनंद का विवरण इस प्रकार दिया है :

(१) पृ० ८२ (१९२६ संस्करण) सं० १७०—

घनानंद कवि

गाइहौं देवी गनेस महेस दिनेसहि पूजत ही फल पाइहौं।
पाइहौं पावन तीरथ नीर सु नेकु जहीं हरि को चित लाइहौं॥
लाइहौं आछे द्विजातिन को अरु गोधन दान करौं चरचाइ हौं।
चाइ अनेकन सों सजनी घनआनंद मीतहि कंठ लगाइ हौं॥

पृ० ४८२ में इस कवि के विषय में लिखा है—

'घनआनंद कवि संवत् १६१५ में उत्पन्न। यह कवि लोगों में महा-उत्तम हो गए हैं।'

(२) पृ० ११ सं० २८

आनंदघन दिल्लीवाले

आपु ही ते तन हेरि हँसे तिरछे करि नैनन नेह के चाउ मैं।
हाय दई सु बिसारि दई सुधि, कैसी करौं सु कहौं कित जाउँ मैं ॥
मीत सुजान अनीति कहा यह, ऐसी न चाहिए प्रीति के भाउ मैं।
मोहनी मूरति देखिबे को तरसावत है बसि एकहि गाँउ मैं ॥१॥
जैहै सबै सुधि भूलि तुम्हैं फिरि भूलि न मो तन भूलि चितैहैं।
एक को आँक बनावत मेटत पोथिय काँख लिए दिन जैहैं ॥
साँची हौ भाखति मोहि कका कि सौं पीतम की गति तेरिहू ह्वै हैं।
मो सो कहा अठिलात अजासुत कै हौ कका जी सों तो हूँ सिखैहैं ॥

पृ० ३८०-८१ पर सं० २२ में इनके विषय में लिखा है—

"आनंदघन दिल्लीवाले, संवत १६१५ में उत्पन्न। इन कवि का कवित्त सूर्य के समान भासमान है। मैंने कोई ग्रंथ इनका नहीं देखा। इनके फुटकर कवित्त प्रायः पाँच सौ तक मेरे पुस्तकालय में होंगे।"

(३) पृ० ३८३, सं० ३९—

"आनंद कवि, संवत् १७११ में उत्पन्न। कोकसार और सामुद्रिक दो ग्रंथ इनके बनाए हैं।"

यद्यपि सरोजकार ने घनानंद और आनंदघन दिल्लीवाले के जन्म-संवत् में ठीक एक सौ वर्षों का अंतर रखा है, किंतु मिश्रबंधुओं ने इन दो कवियों के एक ही व्यक्ति होने की संभावना देखी; कदाचित् इसी कारण उन्होंने विनोद, भाग १, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १७९ पर सरोजकार के घनानंद का 'गाइहौं देवी गनेस महेस...' वाला सवैया (उस कवि की) भाषा के उदाहरण में दिया है और इस घनानंद का कविता-काल (संवत् १७७०-१७९८) वही माना है जो उनके अनुसार प्रसिद्ध शृंगारी घनानंद का कविता-काल (संवत् १७७१—१७९६) है।

किंतु विनोद में एक और आनंदघन का उल्लेख है, जो यशोविजय जी (संवत १७०५) के समसामयिक और 'आनंदघन बहोत्तरी स्तवावली' के रचयिता हैं।

आचार्य क्षितिमोहन सेन के लेख 'जैन मरमी आनंदघन' से, जो इंदौर साहित्य-सम्मेलन की सम्मेलनपत्रिका में प्रथम छपा था और बाद को अविकल रूप में नवंबर १९३८ की 'वीणा' में प्रकाशित हुआ, पता चलता है कि 'आनंदघन बहोत्तरी स्तवावली' के रचयिता आनंदघन जैन कवि थे, जो पहले सांप्रदायिक भाव से साधना-मार्ग में अग्रसर हुए थे, परंतु बाद में असांप्रदायिक मरमी सहजपंथ में आ उपस्थित हुए। क्षितिबाबू ने इन जैन मरमी आनंदघन का समय यशोविजयजी की 'अष्ट-पदी' और बड़ौदा के अंतर्गत दभोई नगर में यशोविजयजी की समाधि पर लिखी निधन-तिथि—मार्गशीर्ष मास संवत् १७४५ की एकादशी—के आधार पर संवत् १६७२ (=ई० सन् १६१५) से संवत् १७३२ (=ई० सन् १६७१) तक माना है। अतः वे शृंगारी घनानंद के (जिनका जन्म सरोजकार के अनुसार संवत् १७१५ में हुआ था) समय विद्यमान थे। जैन मरमी आनंदघन की मृत्यु के समय दिल्लीवाले घनानंद इस प्रकार केवल १७ वर्ष के थे।

आनंदघन-बहोत्तरी के दो संस्करणों का उल्लेख क्षितिबाबू ने किया है, जिनमें से एक श्री भीमसिंह माणिक और दूसरा मोतीचंद गिरधरलालजी कापड़िया द्वारा संपादित और प्रकाशित है। इन जैन मरमी आनंदघन के पदों का कबीर के पदों से साम्य दिखाते हुए क्षितिबाबू ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "जीवन की साधना के पथ में आनंदघन जिस आलोक की अनुप्रारणना से चले थे वह कबीर प्रभृति सहजवादी मरमियों का ही है।" हमारे शृंगारी घनानंद का साधना-पथ कबीर का सा नहीं जान पड़ता। सूफी कवियों और फकीरों के संसर्ग में रहने से उनकी प्रेम-भावना कहीं-कहीं सूफी ढंग की अवश्य हो गई है, अन्यथा वे निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित कहे जाते हैं और कृष्णभक्ति-संप्रदाय की रागानुगा भक्ति ही उनमें पाई जाती है।

श्री के० एम० झवेरी ने अपने 'माइल स्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर' में पृष्ठ १३९ पर लाभविजय (संवत् १६८७=ई० सन् १६२०) नामक एक कवि का उल्लेख किया है जिसकी दार्शनिक रचना का नाम 'आनंदघन

चौबीसी' दिया गया है। इस चौबीसी के रचयिता ने जैन तीर्थंकरों की स्तुति की है। इससे यह प्रकट होता है कि इसके रचयिता आनंदघन भी जैन थे। 'आनंदघनचौबीसी' नाम से यह संकेत अवश्य मिलता है कि चौबीसी के रचयिता आनंदघन रहे होंगे और यदि इस ग्रंथ के रचयिता का नाम लाभविजय है, जैसा कि श्री झवेरी ने लिखा है, तो लाभविजय का ही दूसरा नाम आनंदघन होना चाहिए। जैन-साहित्य में किसी और आनंदघन का पता नहीं चलता, साथ ही लाभविजय और जैन मरमी आनंदघन का समय भी एक ही है। फिर गंभीरविजय के अनुसार—जिनके कथन का उल्लेख क्षितिबाबू ने अपने लेख में किया है—दीक्षा के समय आनंदघन का नाम लाभानंद था और वे कविता में अपना नाम आनंदघन लिखते थे। ऐसी अवस्था में लाभविजय ही लाभानंद अथवा जैन मरमी आनंदघन हो सकते हैं और इस प्रकार वे शृंगारी आनंदघन से नितांत भिन्न हैं।

क्षितिबाबू ने लिखा है, "मेरे प्रिय सुहृद श्री नित्यानंद विनोद गोस्वामीजी ने वृंदावन के एक आनंदघन का पता बताया है। उनके पद अभी तक मुझे नहीं मिले हैं। मिलने पर बहुत संभव है कि दोनों आनंदघन एक ही सिद्ध हों; क्योंकि इस आनंदघन के कई पद वैष्णव भाव के ही हैं। काव्य और संगीत में प्रवीण एक घनानंद और हैं जो मोहम्मदशाह के दरबारी थे। इनका जन्म कायस्थ-कुल में और दीक्षा निंबार्क संप्रदाय में हुई थी। अपनी प्रियतमा 'सुजान' को लक्ष्य करके इनकी बहुत सी कविताएँ निर्मित हुई हैं। एक बार सुजान के प्रति अतिशय आसक्ति के कारण बादशाह के प्रति इनका असौजन्य प्रकाशित हुआ था। इसी लिये बादशाह ने इन्हें निर्वासित कर दिया था। ये दिल्ली से वृंदावन आए थे और नागरीदास के साथ रहते थे। नादिरशाह के मथुरा-आक्रमण के समय ये निहत हुए थे।"

जैन मरमी आनंदघन और वृंदावन के आनंदघन के एक होने की संभावना तो कम है, किंतु यह संभव है कि नित्यानंद गोस्वामी के वृंदावन-वाले आनंदघन हमारे प्रसिद्ध शृंगारी घनानंद (१६५८—१७३९ ई०)

न होकर सरोजकार के सं० १७० (पृ० ८२) घनआनंद कवि हों और नागरीप्रचारिणी सभा के सन् १९१७,१८,१९ के खोज-विवरण में, संख्या ८ में, आनंदघन की रचनाओं में नोट की गई 'प्रीतिपावस', (जिसका रचनाकाल वहाँ १६५८ संवत्=१६०१ ई० दिया गया है) इन्हीं वृंदावनवाले आनंदघन की रचना हो। यदि प्रीतिपावस की हस्तलिखित प्रति का संवत् खोज-विवरण में १६५८ ठीक दिया गया है तो इस बात के लिये स्थान नहीं रह जाता कि वह संवत् १७१५ में उत्पन्न शृंगारी घनानंद अथवा संवत् १६७२ में उत्पन्न जैन मरमी आनंदघन की रचना हो। अधिक संभव यही है कि वह संवत् १६१५ में उत्पन्न (वृंदावनवाले) घनआनंद की रचना हो। किंतु इसके लिये अनुमान तभी ठीक हो सकता है जब सरोजकार का दिया हुआ इस कवि का जन्म-संवत् १६१५ ठीक हो।

जैन मरमी आनंदघन का अंतिम जीवन पश्चिम राजपूताना में मेड़ता नगर में व्यतीत हुआ था। उनकी वाणियों का वहाँ खूब प्रचार रहा। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि प्रसिद्ध शृंगारी घनआनंद के कवित्तों और सवैयों का भी प्रचार राजपूताने में हो चुका था, जिससे इन दोनों कवियों की रचनाओं को गड़बड़ा देने में देर न लगी। जैन मरमी आनंदघन के कई पद वैष्णव भक्ति के पाए जाने और शृंगारी घनआनंद के कवित्तों और सवैयों के लिये 'वाणी' शब्द का प्रयोग होने का यह प्रचार भी एक कारण हो सकता है।

नागरी-प्रचारिणी सभा के १९१२, १३, १४ के खोज-विवरण, सं० ४ में आनंदघन की 'इश्कलता' और 'सुजानहित' दो रचनाओं का विवरण है। 'सुजानहित' से दिए गए अंतिम उदाहरण के अंत में 'इति श्री आनंदघन जी की बानी संपूरण' लिखा है। मध्ययुग में 'वाणी' शब्द संतों की रचनाओं के लिये प्रयुक्त होता था। शृंगारी आनंदघन की रचनाओं के साथ वाणी शब्द का संयोग दो बातों को प्रकट करता है।—(१) शृंगारी घनानंद संत संप्रदाय (के प्रभाव) में रहे हों। (२) संत संप्रदाय के भी कोई आनंदघन अथवा घनआनंद कवि हुए होंगे जिनकी वाणियाँ जनता में खूब प्रचलित हो गईं। पहली बात के समर्थन के लिये

अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिलता है, किंतु दूसरी बात का समर्थन जैन मरमी आनंदघन की रचनाएँ करती हैं।

आनंद और घनानंद नाम के कवियों का व्यक्तित्व भी एक किया गया दिखाई दे रहा है। हिंदी-साहित्य के इतिहासों में आनंदघन अथवा घनानंद की रचनाओं में 'कोकसार' भी गिनी गई है। नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रकाशित खोज-विवरणों में आनंदघन अथवा घनानंद की रचनाओं में तो नहीं, किंतु आनंद कवि की रचनाओं में अवश्य कोकसार की गिनती हुई है। इस कवि के विषय में सन् १९१७-१८ के खोज-विवरण में डा० हीरालाल ने जो नोट लिखा है उसका आशय है कि—कोकसार का रचयिता आनंद कवि सत्रहवीं शताब्दी का जान पड़ता है। वर्तमान हस्तलिखित प्रति संवत् १८२२ (सन् १७६५) की है किंतु १९०२ और १९०६-०८ की खोजों में मिली प्रतियाँ क्रमशः सन् १७३४ और सन् १७४८ ई० की हैं, जिससे प्रकट होता है कि इस पुस्तक का रचयिता सन् १७३४ ई० में विद्यमान था। कदाचित् विषय को देखते हुए कवि ने यथार्थ नाम छिपाकर कल्पित नाम 'आनंद' ग्रहण किया है। किंतु इसी नाम के भिन्न भिन्न कवियों की रचना कोकसार बताई जाने से गड़बड़ी हो जाती है।

सेंगर ने आनंद कवि की 'कोकसार' और 'सामुद्रिक' दो रचनाओं का उल्लेख किया है और आनंद कवि का (१९२६ के शिवसिंह सरोज के संस्करण में ३८३ पृष्ठ पर) जन्म-संवत् १७११ दिया है।

कोकसार के अंतिम अंश का उद्धरण सन् १९०२ के खोज-विवरण में इस प्रकार है—

"पढ़ि सकल काव्य करि करि विचार।
वरन्यो अनंद कवि कोकसार।
खंड पंचदस अति सरस रचि सु बहू बिधि छंद।
पढ़त चढ़त अति चोप चित्त।

इति पंचदस खंड कोकसार सासत्र संपूरणं। समाप्तं।

संवत् १७९१ रा सुदि २३ सन् बार पोथी लिखी, लष्यतुं पां, उदेभाण रा, दसकत छै बाँचे त्याने राम राम है।"

इससे प्रकट होता कि अनंद कवि ने सब काव्यों को पढ़कर, विचार करके, कोकसार की अनेक छंदों में पंद्रह खंडों में रचना की। किंतु कवि का जन्म-संवत् इत्यादि कुछ नहीं दिया गया है। यदि सरोजकार के दिए हुए जन्म-संवत् को प्रामाणिक माना जाय तो अनंद कवि का जन्म संवत् १७११ में हुआ। और यदि कोकसार की सबसे प्राचीन प्रति के प्रतिलिपि काल को ही उसका रचनाकाल भी मान लिया जाय तो अनंद कवि का समय संवत् १७११ से संवत् १७९१ तक आ जाता है।

उधर यही समय शृंगारी घनानंद का है। वे कदाचित् संवत् १७१५ से संवत् १७९८ तक विद्यमान थे। प्रसिद्ध घनानंद की रचना 'वियोग-वेली' को, 'विरहलीला' के नाम से, स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने (ब्रिटिश म्यूजियम लंदन की हस्तलिखित प्रति के आधार पर) सन् १९०७ ई० में प्रकाशित करवाया। वियोगवेलि की एक और हस्तलिखित प्रति का उल्लेख अपने 'विनोद' में मिश्रबंधुओं ने किया है और उसे छतरपुर के दरबार के पुस्तकालय में विद्यमान बतलाया है। सन् १९१७–१८–१९ के खोज-विवरण में भी 'वियोगवेलि' का विवरण (सं० ८ ब मे) आया है। वहाँ इस ग्रंथ का रचनाकाल सन् १७३८ दिया गया है। उक्त त्रैवार्षिक विवरण में वियोगवेलि से जो आरंभिक उद्धरण दिया गया है, उसका प्राथमिक अंश इस प्रकार है—

"अथ वियोग वेली लिष्यते। आनंद कवि कृत वियोगवेली।"

इस रचना को देखने से जान पड़ता है कि यह प्रसिद्ध शृंगारी घनानंद की ही कृति है जो कि फारसी छंद और ब्रजभाषा में लिखी गई है। एक बात इस पुस्तक मे ध्यान देने योग्य है 'आनंद कवि कृत वियोग वेली'। विषय, वर्णन-शैली, भावनाओं और शब्दावलियों को देखकर यह घनानंद की ही रचना जान पड़ती है। इससे यह बात निकली कि घनानंद का कविता में (आनंदा, घनजू, घन आनंद के अतिरिक्त) आनंद नाम भी प्रचलित था।

ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि कोकसार के रचयिता अनंद तथा वियोगवेलि के रचयिता आनंद कवि का व्यक्तित्व एक ही कवि में

सहज ही मिल जाय। कदाचित् इसी सरलता के कारण कोकसार की गिनती प्रसिद्ध घनानंद की रचनाओं में हुई है, अन्यथा उसकी शैली घनानंद की रचनाओं से मेल नहीं खाती। कवित्त-सवैयों में 'कोक पढ़ावत' का उल्लेख सुजान के संबंध में देखकर यह संदेह अवश्य होने लगता है कि हो न हो अनंद कवि के कोकसार से ही कवि का अभिप्राय है। और यदि ऐसी बात है तो यह असंभव नहीं कि कोकसार के अनंद हमारे आनंद, आनंदघन अथवा घनानंद कवि हों, अन्यथा कोकसार का रचयिता अनंद कवि हमारे घनानंद से भिन्न सा ही जान पड़ता है, जो कि समसामयिक होने से कदाचित् घनानंद के साथ मिला दिया गया है।

हमारा संबंध शृंगारी घनानंद से है। उनकी जीवनी के लिये प्रामाणिक सामग्री अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी, इसलिये जनश्रुतियों तथा अनुमानों से ही काम लिया जाता है। डा० ग्रियर्सन ने महादेवप्रसाद के साहित्य-भूषण का प्रमाण देते हुए लिखा है—घनानंद जाति के कायस्थ और मुहम्मदशाह (१७१९-१७४८ ई०) के मुंशी थे। अंतिम दिन इन्होंने वृंदावन में बिताए और वहाँ नादिरशाही में मारे गए। सन् १९०६-७-८ के खोज-विवरण में (सं० १२५ में) बाबू श्यामसुंदरदास ने घनानंद का समय सन् १६५८ से सन् १७३९ तक बतलाया है और लिखा है कि घनानंद अच्छे कवि होने के अतिरिक्त गवैए भी अच्छे थे। इनका उल्लेख रीवाँ के राजा रघुराजसिंह ने अपने भक्तमाल में किया है। सन् १९१२-१३-१४ के खोज-विवरण में (सं० ४ में) पंडित श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र ने लिखा है—प्रस्तुत आनंदघन विनोद के सं० ६४१ वाले घनानंद ही हैं। ये दिल्ली के कायस्थ थे। पहले ये सुजान के प्रेम में पड़े, किंतु अंत में निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित हुए। 'रत्नाकर' जी के अनुसार घनानंद बुलंदशहर के निकट के रहनेवाले थे। लाला भगवानदीन ने इनके विषय में कहा है—आनंदघन का जन्म संवत् १७१५ के लगभग प्रतीत होता है। परलोकयात्रा संवत् १७९६ में जान पड़ती है। दिल्ली निवासी भटनागर कायस्थ थे। वंशपरंपरा में नौकरी पेशा चला आने के कारण समयानुसार इन्होंने फारसी भाषा की शिक्षा

पाई और उस भाषा का अच्छा पांडित्य प्राप्त किया था। बचपन में इन्हें रासलीला देखने का बड़ा शौक था, जिससे पीछे भी इनका मन बादशाह के दरबार में न लगा और वे विरक्त होकर वृंदावन चले गए जहाँ राधाकृष्ण की भक्ति में इन्होंने अपना जीवन बिताया और अंत में नादिर-शाही में मारे गए। क्षितिबाबू के अनुसार ये वृंदावन में नागरीदास के साथ रहते थे। वियोगी हरि और आचार्य शुक्ल घनानंद की जन्मतिथि संवत् १७४६ के आसपास मानते हैं।

जनश्रुति है कि घनानंद का सुजान नाम की वेश्या से प्रेम हो गया था। दरबारियों ने एक दिन बादशाह से चुगली खाई कि घनानंद गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह ने घनानंद से गाने को कहा, किंतु वे चुप रहे। इस पर किसी ने कहा कि यदि सुजान बुलाई जाय तो ये अवश्य गाने लगेंगे। सुजान के इनके सामने आते ही इनकी सरस्वती खुल गई और ये गाने लगे। बादशाह को इससे बड़ा क्रोध आया और इन्हें दरबार से निकाल दिया। घनानंद को आशा थी कि सुजान भी उनका साथ देगी, पर वह ऐसा न कर सकी। इससे घनानंद विरक्त होकर वृंदावन चले, गए और वहाँ राधा और कृष्ण के भजन में लग गए, किंतु अपनी प्रियतमा की स्मृति बनाए रखने के लिये उन्होंने राधा और कृष्ण के साथ भी सुजान का नाम जोड़ दिया। नादिरशाह के मथुरा-आक्रमण में धन की खोज में सिपाहियों ने इन्हें मार डाला और ये सदेह वैकुंठ गए। सदेह वैकुंठ जाने की बात से इतना तो स्पष्ट है कि घनानंद उच्च कोटि के भक्त भी थे। किंतु यह सारी जनश्रुति ही है। हो सकता है, घनानंद के रसिक काव्य में सुजान की छाप के कारण ही पीछे से लोगों ने इस कथा की उद्भावना की हो और घनानंद की सुजान राधा ही हो, न कि कोई वेश्या। ऐसी दशा में बादशाह के द्वारा निर्वासित किए जाने की बात की अपेक्षा घनानंद के बचपन की रासलीला के संस्कारों के कारण स्वयं विरक्त होकर वृंदावन चले जाने की बात ही अधिक मान्य हो सकती है। और सुजान के नृत्य, रूप, संगीत आदि का जो वर्णन घनानंद के काव्य में मिलता है, वह रासलीला की राधा का भी हो सकता है जो कि प्रेमी

कवि की भावनाओं के परिष्कृत होने के पूर्व रसिक रूप में हुआ है। किंतु जनश्रुति यदि अपने प्रचलित रूप में भी सत्य हो तो भी घनानंद के जीवन में कोई ऐसी बात नहीं पाई जाती जो उनके प्रेम की हीनता को प्रकट करे। घनानंद ने यदि सुजान से प्रेम किया तो सच्चे हृदय से। वे सुजान के गुणों पर बिके, शरीर मात्र पर नहीं। सुजान के प्रेम में उन्होंने बावले लोगों की चिंता न की। जब तक वे सुजान के समीप रहे तब तक प्रेम की अग्नि में जलते हुए भी सुखी थे। दुःख का वज्रपात तो उन पर तब हुआ जब उन्हें सुजान से दूर हो जाना पड़ा और वह सुजान उनके साथ न आ सकी जिसके प्रेम के कारण वे दरबार से निकाले जा रहे थे और जिस पर घनानंद जी-जान से न्योछावर थे। किंतु फिर भी सच्चे प्रेमी घनानंद ने सुजान से दूर हो जाने पर उसको भुला नहीं दिया, वरन् अपने आराध्य राधा और कृष्ण पर भी सुजान का रंग चढ़ा दिया। सुजान की एक एक सुध घनानंद को बेसुध करती रही। सुजान ने भी कभी घनानंद को याद किया या नहीं, यह जानने के लिये कोई साधन नहीं है; किंतु घनानंद की कविता आँसू गिरा गिराकर बतला रही है कि सुजान की बेसुध कर देनेवाली सुध में घनानंद ने जो आँसू बहाए, उनकी एक एक बूँद में जो ठंडी साँसें भरीं, उनके एक एक उच्छ्वास में एक मूक प्रेमी के संयत हृदय का करुण आत्मनिवेदन है।

घनानंद की स्फुट रचनाओं के अनेक संग्रहों का पता मिलता है। मिश्रबंधुओं ने इनकी रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—"इनका कविताकाल संवत् १७७१ से १७९६ तक समझना चाहिए। इन्होंने सुजान-सागर, कोकसार, घनानंद कवित्त, रसकेलिवल्ली, वियोगबेली और कृपाकांड निबंध नामक ग्रंथ बनाए जो (सन् १९०० तथा १९०३ की) खोज में मिले हैं। सरदार कवि ने अपने संग्रह में इनके प्रायः डेढ़ सौ छंद लिखे हैं। और इनके चार सौ पचीस छंदों का एक स्फुट संग्रह हमने देखा है। इनके अतिरिक्त हमको ५४२ बड़े पृष्ठों का एक भारी ग्रंथ संवत् १८८५ का लिखा हुआ दरबार छतरपुर के पुस्तकालय में देखने को मिला, जिसमें १८८१ विविध छंदों तथा १०४४ पदों द्वारा निम्नलिखित विषय वर्णित हैं—प्रिया-

प्रसाद, ब्रजत्योहार, वियोगवेली, कृपाकांड निबंध, गिरिगाथा, भावना-प्रकाश, गोकुलविनोद, ब्रजप्रसाद, धामचमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृंदावन मुद्रा, प्रेमपत्रिका, ब्रजवर्णन, रसवसंत, अनुभवचंद्रिका, रंग बधाई, परमहंसवंशावली और पद। इनमें पदों की रचना साधारण है और उनमें भक्ति तथा ब्रजलीलाओं का वर्णन किया गया है। दूसरे वर्णन विविध छंदों में किए गए हैं, जिनमें कवित्तों और सवैयों की अधिकता है। ...... यह साहित्य सरस और प्रशंसनीय है।.........इस भारी ग्रंथ में हर स्थान पर भक्ति का चमत्कार देख पड़ता है।........ तृतीय त्रैवार्षिक खोज में इनके सुजानहित तथा इश्कलता नामक दो ग्रंथों का पता चलता है तथा चतुर्थ त्रैवार्षिक रिपोर्ट में इनका 'प्रीतिपावस' नामक ग्रंथ मिला है।"

मिश्रबंधुओं ने जिन रचनाओं का उल्लेख किया है उनमें कोकसार और प्रीतिपावस पर विचार किया जा चुका है। सन् १९००-०१-०३ की खोजों में मिली जिन रचनाओं—घनानंद कवित्त, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड निबंध—का उल्लेख मिश्रबंधुओं ने ऊपर के अवतरण में किया है उनके विषय में खोज-विवरण में दी गई बातों का उल्लेख कर ही देना आवश्यक है। सन् १९०० के खोज-विवरण में बाबू श्यामसुंदरदास ने घनानंद कवित्त के विषय में (सं० ७९ में) लिखते हुए लिखा है—कहा जाता है कि घनानंद के एक हजार पाँच सौ कवित्तों का एक संग्रह (रसकेलिवल्ली के नाम से) था जिसके केवल पाँच सौ सोलह कवित्त मात्र प्रस्तुत संग्रह मे आए हैं। बाबू साहब के इस कथन में 'कहा जाता है' से स्पष्ट है कि रसकेलिवल्ली प्राप्त नहीं हुई। सन् १९०३ ई० की खोज में 'कृपाकांड निबंध' का तो नहीं किंतु 'कृपाकंद निबंध' का उल्लेख है।

वियोगी हरि ने 'ब्रजमाधुरी सार' (संवत् १९९६ संस्करण, पृष्ठ २५९) में घनानंद की रचनाओं में 'बानी' का उल्लेख किया है और लिखा है "बानी में राधाकृष्ण के विहार और अष्टयाम संबंधी पदों का संग्रह है। बानी के पद्य इनकी अन्य रचनाओं से कुछ शिथिल हैं।"

इनके अतिरिक्त घनानंद के स्फुट कवित्तों और सवैयों के संग्रह जमनादासजी कीर्तनिया और मायाशंकरजी याज्ञिक के पुस्तकालयों में पाए

जाते हैं। सेंगर ने भी अपने पुस्तकालय में इनके कवित्तों और सवैयों के संग्रह का उल्लेख 'सरोज' में किया है।

कदाचित् घनानंद ने संगठित रूप से कोई ग्रंथ नहीं रचा, प्रत्युत भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न विषयों पर वे स्फुट कविता करते रहे जो अपनी लोकप्रियता के कारण भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न समय में संगृहीत हुईं। इन संग्रहकर्त्ताओं ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार संग्रहों के नाम रख लिए अथवा खोज करनेवालों ने भी कहीं कहीं विषय को देखकर रचनाओं को नाम दे दिए। प्रबंध अथवा खंडकाव्य लिखने का प्रयत्न शायद घनानंद ने कभी नहीं किया।

घनानंद की अधिकतर रचनाएँ अभी अप्रकाशित ही पड़ी हैं। विरह-लीला के नाम से वियोगवेलि जो स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल ने सन् १९०७ ई० में नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित करवाई थी उससे पूर्व घनानंद की कविता को प्रकाशित करने का सबसे पहला प्रयत्न भारतेंदु हरिश्चंद्र का था जिन्होंने 'सुंदरी तिलक' में इनके बहुत से सवैये संगृहीत करवाए। फिर सन् १८७० ई० में 'सुजानसागर' से ११८ कवित्तों और दोहों को 'सुजानसतक' नाम से प्रकाशित किया। 'सुजानसागर' का प्रथम संस्करण, जो कि स्वर्गीय रत्नाकरजी द्वारा संपादित हुआ था, सन् १८९७ ई० में, काशी के हरिप्रकाश यंत्र से प्रकाशित हुआ। उसका दूसरा संस्करण, जिसमें कुछ पद भी सम्मिलित हैं, बाबू अमीरसिंह द्वारा संपादित होकर सन् १९२९ में नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। इनके अतिरिक्त कोई रचना घनानंद की अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। इससे घनानंद के काव्य का पूरा पूरा विवेचन करना अत्यंत कठिन है।

प्रेमपरिशीलन तथा काव्य-विवेचन

खड़ी बोली के इस उत्कर्षकाल में जब जीवन की धारा एकबारगी ही बदल गई है, पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान के धक्कों से, इतिहास के आलोक में जब शताब्दियों से राधा-कृष्ण के ऐकांतिक मंदिर के आँगन में बैठे हुए पुजारियों के आगे नवीन नवीन देवता पूजा पाने के लिये आकर खड़े

हो गए हैं, प्राचीन कवियों के प्रति न्याय करना असंभव सा हो गया है। इसी देश के निवासी होने पर भी सूरदास और प्रसाद, घनानंद और सुमित्रानंदन पंत में प्राय: उतना ही अंतर है जितना पृथ्वी के दो कोनों में पैदा हुए आदमियों में होता है। राधा और कृष्ण की आड़ में अपनी तथा अपने आश्रयदाताओं की वासनाओं को कविता का रूप देनेवाले कवियों का तो अब कहीं भी आदर नहीं। इने-गिने रसिक साहित्यिकों को छोड़कर रीति-काल के इन कवियों पर प्राय: कम लोग ही मोह करते हैं। फिर भाषा की भी एक अड़चन सामने है। खड़ी बोली के अधिकाधिक प्रचार के साथ साथ ही ब्रजभाषा अधिकाधिक दुरूह होती चली जा रही है। इतना सब होने पर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जब तक संसार में कोई कविता-प्रेमी रहेगा, जिसका हृदय दूसरे के दु:ख को देखकर पिघलता है, तब तक घनानंद की कविता का आदर रहेगा। वह भुलाई नहीं जा सकती; क्योंकि उसमें वह अमृत-तत्त्व है जिसे पाने के लिये पाठक ब्रजभाषा की दुरूहता के पर्वत लाँघेंगे, उसमें वह सौंदर्य है जिसे हृदयंगम करने के लिये पाठक कई बार इन कवित्तों और सवैयों को पढ़ेंगे।

घनानंद तुलसी की भाँति जनता के कवि नहीं, टिमटिमाते दीपकों की कुटियों से लेकर जगमगाते राजमहलों तक उनकी पहुँच नहीं। उनकी कविता चौपालों में बैठे हुए किसानों, 'पराधीन सपनेहुँ सुख नहीं' कहकर राजनीति का लेक्चर समाप्त करनेवाले लीडरों तथा गंगा-किनारे बैठे गेरुआ वस्त्र पहने हुए शांत साधुओं के मुखों से नहीं सुनाई देती और न तो उर्दू की गजलों की तरह अयोग्य पात्रों के मुखों से ही सुनाई देती है। घनानंद भवभूति की तरह उन्हीं समानधर्माओं के लिये काव्य-रचना करते थे जिनके लिये प्रेम एक ऊँचा आदर्श है और जिन्होंने हृदय की आँखों से प्रेम की पीर को तका है।* सुसंस्कृत रुचि के

* प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कैं सबके मन लालच दौरै पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी॥
जग की कविताई के धोखे रहैं ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी।
समुझै कविता घनआनँद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥

ऐसे पुरुषों के लिये घनानंद के सवैये और कवित्त अमृत की बूँदों के समान हैं।

बात यह है कि घनानंद ने सच्चे हृदय से प्रेम किया था। बिहारी, मतिराम, देव आदि से वे इसी बात में भिन्न और सूर तथा तुलसी से इसी बात में मिलते-जुलते थे। बिहारी ने प्रेम को शायद पोथियों से जाना था। 'प्रेम की पीर', जिसे जायसी खूब पहचानते थे, जिसने सूर के हृदय को मथित कर उसके रत्नों को 'सूरसागर' के रूप में सँवारा था, जिसने मीरा को जीवन भर रुलाया था, वह बिहारी के लिये अनजान थी। यही हाल मतिराम और देव का भी है। इनके लिये नायिका का शरीर ही सब कुछ है, और इनका प्रेम भी उसके शरीर ही तक सीमित है। इनकी विरह-व्यथा की अवधि भी शायद एक-दो रातों से अधिक नहीं है, सखियों के और गुरुजनों के सामने नायक नायिका को 'प्रेम' करने लगते हैं। नायिका रिसा जाती है। वे मुसकाकर उठ जाते हैं। नायिका के दुःख का पारावार नहीं। वह सिसक सिसककर रात काटती है, रो रोकर सबेरा करती है। बड़ी बड़ी आँखों से आँसू ढलते हैं, और गोरा गोरा मुख धीरे धीरे ओले की तरह 'बिलाता' जाता है—

सखी के सकोच, गुरु सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
को जानै री, बीर बिनु बिरही बिरह-व्यथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात।
बड़े बड़े नैनन सों आँसू भरि भरि ढरि
गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात॥

—देव।

कहीं विरह-व्यथा से नायिका इतनी पतली हो गई है कि दिखाई नहीं देती, केवल एक आँच सी बिस्तर पर दिखाई देती है, जिससे अनुमान हो सकता है कि शायद नायिका यहीं है—

देखि परे नहिं दूबरी, सुनिए श्याम सुजान।
जानि परे परजंक में, अंग आँच अनुमान॥

—मतिराम।

पूस की रात में अपने कपड़े भिगोकर सखियाँ नेह-वश विरहिनी सखी के पास जा रही हैं जो प्रलय-काल के सूर्य की तरह ज्वाला उगल रही है—

आड़े दै आले वसन जाड़ेहू की रात।
साहस कै कै नेह-बस सखी सबै ढिग जात॥

—बिहारी।

इस पर शायद किसी को कुछ कहने का अधिकार भी नहीं है; क्योंकि कवि कहते हैं—

को जानै री, बीर बिनु बिरही बिरह-व्यथा।

ये कवि विरह-व्यथा के वर्णन में चमत्कार दिखाने के फेर में बेतरह पड़े थे, और चमत्कार दिखाने की इन्हें इसलिये सूझी कि इन्हें कभी भी सच्चा विरह नहीं हुआ था, और सच्चा विरह इन्हें इसलिये नहीं हुआ था कि इन्होंने कभी भी सच्चा प्रेम नहीं किया था। घनानंद इन कवियों से प्रधानतया इसी बात में भिन्न हैं। प्रेम की कसौटी विरह है, और घनानंद का विरह-वर्णन उनके सच्चे प्रेम का साक्षी है।

भवभूति ने 'अद्वैतं सुखदुःखयोः' कहकर प्रेम की वंदना की है। तुलसीदास ने अपना आदर्श चातक को माना है और सूर ने हिरन को, जो सम्मुख बाण के लगने पर भी अंगों को पीछे नहीं मोड़ता। घनानंद का भी इन्हीं की भाँति प्रेम का आदर्श ऊँचा है। उनके लिये प्रेम अपार महोदधि है जिसमें स्वयं राधा और कृष्ण एकरस होकर सदा निमग्न रहा करते हैं और जिसकी तरल तरंगों की भूली-भटकी एक ही बूँद सृष्टि को आनंद-मग्न कर देने में समर्थ है—

प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै विचार
बापुरो हहरि बार ही तैं फिरि आयो है।
ताही एक रस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि राधा जिन्हें देखे सरसायो है॥

ताकी कोई तरल तरंग संग छूट्यो कन
पूरि लोक लोकनि उमँगि उपनायो है।
सोई घनआनंद सुजान लागि हेत होत
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायो है॥

तुलसी की भाँति घनानंद भी कहते हैं—

एकै आस, एकै विश्वास प्रान गहैं बास
और पहिचानि इन्हें रही काहू सों न है।
मोहि तुम एक, तुम्हैं मो सम अनेक आहिं
कहा कछु चंदहि चकोरन की कमी है॥

घनानंद का 'चाह के रंग मैं भींजा' हृदय बिछुड़े प्रीतम के मिलने पर भी शांति नहीं मानता; क्योंकि उनका प्रेम देह का नहीं है, वह देह के मिलने से कहीं आगे भी देखता है। घनानंद प्रेम-मार्ग को अच्छी तरह जानते हैं। प्रेम का रास्ता बिलकुल सीधा है। वहाँ कपट-चातुरी नहीं चाहिए। सच्चे प्रेमी उस मार्ग में अपनापन छोड़कर चलते हैं। जो निश्शंक नहीं हैं, जो कपटी हैं, वे वहाँ चलने से झिझकते हैं—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।*
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ† झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तै दूसरो आँक नहीं।‡
तुम कौन धौं पाटि पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

लेकिन सब तो इस प्रकार अपना सर्वस्व समर्पण नहीं करते। घनानंद ने अपना सर्वस्व जिसे दिया उसे तो 'निठुराई से निपट नेह'§ है, वह पहले

* पिय को मारग सुगम है, तेरा चलन अबेड़ा।
नाच न जानै बावरी कहै अंगना टेढ़ा॥—कबीर

† तूँ तूँ करता तूँ भया मुझमें रही न मैं।—कबीर

‡ प्रेम-गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं।—कबीर

§ जासों प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह।

स्नेह के साथ अपनाता है और फिर सहसा ही स्नेह को तोड़ देता है। निराधार को पहले तो सहारा देता है और फिर बीच धार में बाँह छोड़कर डुबो देता है। रस पिलाकर, जिलाकर, आशा को बढ़ाकर न जाने क्यों विश्वास में विष घोल देता है।* पहले मीठे मीठे बोल बोलकर ठगता है और फिर जी को जलाने लगता है।† रस-रंग से अंग अंग को सींचकर उन्हीं में विषम विषाद की बेलि बोकर चला जाता है।‡ उसकी रीति बधिक से भी अधिक क्रूर है। वह कपट का चुगा देकर फिर मार नहीं देता, बल्कि एक बार ही छोड़ देता है। 'गुननि' से पकड़कर, पंखों को खसोटकर जीव को ऐसी दशा में छोड़ देता है कि वह न तो मर ही सकता है और न जी ही सकता है। हाय उसकी दया भी छुरी से अधिक विषम है।§ इतना सब होने पर भी प्रेमी उस निष्ठुर से नेह करना नहीं छोड़ता, उसकी दृष्टि कहीं लगती ही नहीं।|| रो रोकर वह दृष्टि को बहा दे—पर नहीं, यदि कभी वे आ गए तो वह उन्हें कैसे देखेगा? रसना को विष में डुबाकर वह वाणी को ही मिटा देता; पर नहीं, वह तो उनके नाम की सुधा

---

* पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह को तोरिए जू।
निरधार अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरिए जू॥
घनआनँद आपने चातक कों गुन बाँधि लै मोह न छोरिए जू।
रस प्याय कैं ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास मैं यों विष घोरिए जू॥

† मीठे मीठे बोल बोलि ठगी पहिलैं तौ तब,
अब जिय जारत धौं कौन न्याय है।

‡ सींचे रस रंग अंग अंगनि अनंग सौंपि
अंतर मैं विषम विषाद बेलि बै चलै।

§ अधिक बधिक तें सुजान रीति रावरी है
कपट चुगौ दै फिरि निपट करौ बरी।
गुननि पकरि लै निपाख करि छोरि देहु,
मरहि न जोयै महा विषम दया छुरी।

|| दीठि को और कहूँ नहिं ठौर फिरी दग रावरे रूप की दोही।

को पी रही है। वह अपने जीवन को समाप्त कर दे, पर यदि कभी वे मिल गए तो ? यही आशा है जो उसको जीवित रखती है—

दृग नीर सों दीठिहिं देहुँ बहाय पै वा मुख कौं अभिलाषि रही।
रसना बिस बोरि गिराहि गसौं वह नाम सुधानिधि भाषि रही॥
घनआनँद जान सुबैननि त्यों रचि कान बचे रुचि साखि रही।
निज जीवन पाय पलै कबहूँ, पिय कारन यों जिय राखि रही॥

जीवन से निराश होने पर भी हृदय के एक कोने में मिलने की आशा बनी है। उसी की टेक से प्राणों के बटोही अभी बैठे हैं। वे उड़ना चाहते हैं, पर प्रेमी, पिय का नाम ले लेकर, उन्हें बहला रहा है—

जीव ते भई उदास तऊ है मिलन आस
जीवहु जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे।

अपनी इस विपत्ति को वह अपने भाग्य की करतूत मानता है; वह किसे दोष दे ?—

रैन-दिन चैन को न लेस कहूँ पैयै, भाग
आपने ही ऐसे, दोष काहि धौं लगाइए।

वे जो निपट निठुर हो गए हैं, उन्होंने जो उसकी सुधि भुला दी, यह सब उसी के भाग्य की कृपा थी। वह अब भाग्य के प्रहार के नीचे झुक जाता है। प्रेमी से कहता है—मैं तो तुम्हारी ही बातों से जी रहा हूँ, तुम्हें जो व्यवहार करना हो करते रहो। ईश्वर करे, तुम चतुर कहाकर हमेशा फूलते फलते रहो।

इन बाँट परी सुधि रावरे भूलनि, कैसे उराहनो दीजियै जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियै जू॥
घनआनँद जीवन प्रान सुजान तिहारियै बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम चाड़ु कहाय असीस हमारियौ लीजियै जू॥

उसे अपनी चिंता नहीं है। यदि प्रेमी को उसे जलाना ही रुचा है तो वह प्रिय की सौगंध खाकर कहता है कि वह जीवन भर जलता ही रहेगा, लेकिन यदि उसकी दशा देखकर किसी ने उसके प्रेमी के लिये बुरा-भला कहा तो वह क्या करेगा ? उसे तो वह बे-मौत का मरना हो जायगा—

मन भायो वियोग मैं जारिबो ज्यो तौ तिहारी सौं नीके जरैं औ मरैं।
पै तुम्हैं मत कोऊ कहौ हितहीन सु या दुख बीच अमीच मरैं॥

प्रतिकूल हवा के इतने झोंकों को लगातार सहता हुआ भी जो प्रेम का पौधा इस प्रकार निश्चल रह सकता है, उसकी जड़ें कितनी गहरी होंगी?

प्रेम की यह गहन अनुभूति थी, जिसने घनानंद की कविता को स्वाभाविकता की हरियाली देकर रीतिकाल की अस्वाभाविकता की मरुभूमि में आनंदप्रद बना दिया है। प्रेम की बारीकियों को जितना घनानंद ने देखा है, उतना प्रायः और किसी ने नहीं। अन्य शृंगारी कवियों में शृंगार के वर्णन में आचार्यत्व का जितना ध्यान रहा है, उतना साहित्य का नहीं। मतिराम, ठाकुर, पद्माकर इत्यादि ने पहले साहित्य-शास्त्र के लक्षण लिखे, बाद को उदाहरण के लिये कविता लिखी। फल-स्वरूप न तो वे साहित्य-शास्त्र के ही क्षेत्र में आगे बढ़ सके और न कविता के ही; किंतु बिहारी और घनानंद लक्षण-ग्रंथ लिखने के फेर में न पड़कर स्वतंत्र रूप से कविता करते रहे। कल्पना और अनुभूति को स्वच्छंद मार्ग देने के कारण ही इनकी कविता अधिक सुंदर और सरस हो सकी है।

घनानंद की कविता अपनी भाषा की सजीवता और सरलता के कारण सीधे हृदय पर चोट करती है। उसके समझने के लिये रुकना नहीं पड़ता। शब्दों की तोड़-मरोड़ घनानंद में कहीं भी न मिलेगी। भाषा की शुद्धता और सजीवता घनानंद की सबसे बड़ी विशेषता है। यों तो बिहारी भी मँजे कवि हैं, किंतु जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, वह मसृणता और वह सजीवता बिहारी में भी नहीं है जो घनानंद में है। बिहारी ने शब्दों की काट-छाँट की है; किंतु उनके अधिकांश शब्द रूढ़िगत ही हैं। किंतु घनानंद ने रूढ़िगत साहित्यिक भाषा को न लेकर सामयिक प्रचलित ब्रजबोली का प्रयोग स्वाभाविक रीति से किया है। निपट नेह, महानिरदयी, टूक कियो, बाँचि न देख्यो, पाटी पढ़े, मग माँ पति खुलि मिले, उघरी बरसे, निकाई पै बिकै, आदि प्रयोग कितने स्वाभाविक तथा सुंदर हैं। इसी भाँति 'कान फोरि लै', 'गहि बाँह', 'तारन ताकिबो', 'इक तार न टारति' आदि मुहावरों के उपयुक्त प्रयोग से घनानंद की कविता अपनी सजीवता बनाए हुए है।

वाचोयुक्ति पर घनानंद का बड़ा स्वातंत्र्य था। यदि कृष्ण का आलस्य कहना अभीष्ट है तो व्यंजकता बढ़ाने के लिये कृष्ण की आदत का आलस्य करना कहेंगे—

अरसानि गही वह बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत है।

यदि कहना है दुख का वर्णन करने की सामर्थ्य जिह्वा में नहीं है तो कहेंगे ऐसी जिह्वा का कहीं मुख ही नहीं मिलता—

दुख के बखान करिबो को रसना कै होति
ऐये कहूँ बाकौ मुख देखन न पाइये॥

शब्दों द्वारा चित्र खींचने में घनानंद बिहारी से किसी भाँति पिछड़े नहीं है। प्रेमी की विरह की अग्नि, प्रेयसी के देखते ही बुझ जाती है, इस पर चकित होकर प्रेमी पूछता है—

गोरी तेरे सरस दृग किधौं श्याम घन आप।
दावानल सों पान ये करत विरह संताप॥

प्रेमी के इस कथन ने उस सुंदरी की आँखों का पूरा पूरा वर्णन भी कर दिया। वे आँखें सरस हैं, श्याम घन की भाँति काली हैं, और दावानल पान करने से उनमें लाली भी छाई हुई है।

घनानंद की कविता में भाव की तल्लीनता के कारण उसके सौंदर्य को बढ़ानेवाले अलंकार स्वतः चले आए हैं। एक उदाहरण लीजिए—

झलकै अति सुंदर आनन गौर छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि में छबि फूलन की वर्षा उर ऊपर जातिहै ह्वै॥

प्रेमी सौंदर्य देखने में इतना तल्लीन है कि उसे और किसी वस्तु की नहीं सूझती। वह सुंदर आनन को देखता है। कानों को छूनेवाली आँखों को देखता है। जब प्रेमी हँसकर बोलता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे हृदय पर शोभा के फूल बरसते हों। केवल यहाँ कवि को फूलों की याद आती है। पर वे फूल शोभा के हैं, जिनसे हँसी भरे बोलों को रूप सा मिल जाता है। प्रियतम बोल रहे हैं, जैसे एक फूल उनके मुख से झर रहा हो। लेकिन वे हँस हँसकर बोल रहे हैं, जैसे वे फूल खिले हुए हों। परंतु वे फूल तो शोभा के फूल हैं और उनके मुँह से झरकर पृथ्वी पर नहीं बल्कि

प्रेमी के हृदय में बिछ रहे हैं। उनके हँसी भरे बोलों को सुनकर प्रेमी के हृदय को जो प्रसन्नता होती है उसी का वर्णन हँसी भरे बोलों को छवि के फूलों से उपमा देने से किस सुंदरता से हो गया है।

घनानंद पाठक को अपने हृदय के सुरम्य स्थलों को दिखाते हुए, भावधारा के साथ छंद के अंत तक ले चलते हैं जहाँ पहुँचकर बादल के पीछे से निकलनेवाली चाँदनी की भाँति अर्थ के प्राणशब्द के दर्शन कर पाठक आनंद की ज्योत्स्ना में डूब जाता है। और कहीं कहीं तो इस प्रकार की दुहरी धाराओं के सुख एकत्र ही पाकर पाठक चकित होकर घनानंद की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगता है। छंद के अंत में जिज्ञासावृत्ति के परितोष से जो सुख पाठक को मिलता है, वह अपनी स्मृति आनंद की अनुभूति के रूप में बहुत गहरे उसके मन में पैठ जाती है और फिर रह रहकर वह स्मृति सजग हो जाती है। नीचे लिखे कवित्त-सवैयों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

नेह निधान सुजान समीप तौ सींचत ही हियरा सियराई।
सोई किधौं अब और भई दई हेरत ही मति जाति हिराई॥
है विपरीति महा घन आनँद अंबर तें धर कों झर आई।
जारति अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सु नई अँग लाई॥

आस ही अकास मधि अवधि गुनै बढ़ाय
चोपनि चढ़ाय दीनौ कीनो खेल सो यहै।
निपट कठोर एहो ऐंचत न आप ओर
लाड़ले सुजान सों दुहेली दसा को कहै॥
अचिरजमई मोहि भई घनआनंद यों
हाथ साथ लाग्यो पै समीप न कहूँ लहै।
विरह समीर की झकोरनि अधीर नेह-
नीर भीज्यो जीव तऊ गुड़ी लों उड़्यो रहै॥

जोन्ह, जीव और गुड़ी को उपर्युक्त सवैये और कवित्त से हटा दीजिए तो अर्थ कुहासे में छिप जाता है। अस्पष्टता के कुहासे से सौंदर्य की चाँदनी उस समय सहसा निकलती है, जब पाठक छंद को समाप्त करने

से पहले अंतिम पंक्ति तक पहुँचकर प्राणशब्द को पाने के लिये विकल हो उठता है। जोन्ह, जीव और गुड़ी ही यहाँ प्राणशब्द हैं, जिन पर सौंदर्य टिका है।

घनानंद की कविता सौंदर्य और आनंद की अनुभूति से शराबोर है। उसके आँसुओं और हँसियों में सम्मोहन की प्रचुर सामग्री है। यहाँ केवल दो-एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

जगत् के प्राण, छोटे बड़े के। समान रूप से देखनेवाले पवन से विरही प्रार्थना करता है—

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी
तो सो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान,
घनआनँद निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे, गुन भारे, अति मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि
धूरि तिन पायन की हा हा नैकु आनि दै॥

वह पवन से यह नहीं कहता कि तू उनकी अलकों की सुगंध उड़ाकर ला और मेरे हृदय के। सुरभित कर दे। वह यह नहीं कहता कि, हे पवन, तू उनको छूकर मेरे अंगों का स्पर्श कर मुझे आनंदित कर दे।* वह उनके पाँवों पर लिपटी धूलि के। अपने सर-आँखों लगाने के लिये चाहता है। उस दीन के लिये वह तुच्छ धूल ही अमूल्य निधि है।

चराचर के हित करनेवाले 'परजन्य' के। देखकर विरही की आँखें भर आती हैं। वह उससे प्रार्थना करता है—

पर-काजहि देह को धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा की समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।

---

* तामीषत् प्रचलविलोचनां नताङ्गीं—
आलिंगन् पवन मम स्पृशाङ्गमङ्गम् ॥—मालतीमाधव।

घनआनँद जीवनदायक हौ कछु मेरियै पीर हिएँ परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानिहिं लै बरसौ ॥

अलका के विरही यक्ष ने भी तो एक दिन इसी भाँति अपनी प्रिया के देश को जाते हुए मेघ को देखकर उससे प्रार्थना की थी—

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत् पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।

और इसी स्मृति को लिए हुए पाठक सहसा कह सकता है कि शायद घनानंद ने कालिदास का ही भाव सवैये में भर दिया है; परंतु घनानंद के भाव उसी प्रकार अपने हैं, जैसे उनके आँसू अपने ही थे।

घनानंद की कविता में उद्वेग या भड़क नहीं है। वह अंधड़ या तूफान की भाँति हृदय को धक्का नहीं देती, वरन् प्रशांत समीर की भाँति हृदय को आनंदित करती है। वह आँसुओं के बीच से होकर हृदय को कल्याण की ओर ले जानेवाली (सुजानसागरोन्मुखी) सरस्वती है। इस दृष्टि से वह मीरा के काव्य की भाँति उस विरहिणी का घर है जो बैठकर आँसुओं की माला पोया करती है। घनानंद ने वाणी की सार्थकता कृष्ण-गुण-गान में ही समझी, इसी लिये वे कहते हैं—

मंजु गुंज करै राग रचे सुर भरै प्रेम
पुंज छबि धरै हरै दरप मनोज कौ।
चाव मतवारौ भाव भाँवरीन लेतु रहै
देत नैन चैन ऐन चोपनि के चोज कौ ॥
और फूल भूलि, रीझि भीजि घनआनँद यों
बंदी भयो एक वाही गुनगन ओज कौ।
बानी रसरानी वा मधुव्रत कौं लखौ जिन
कृपा मकरंद स्याम हृदय सरोज कौ ॥

घनानंद में सूरदास और मीरा की सी तन्मयता, तुलसी की सी उदात्तता, विद्यापति का सा पदलालित्य तथा बिहारी का-सा अर्थगौरव है। इसमें संदेह नहीं कि "प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।"

चयन

यह उपेक्षा क्यों ?

'विशाल भारत' के जून १९४१ के अंक में उपर्युक्त शीर्षक से 'एक स्यामी हिंदी-विद्यार्थी' का एक विशेष महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। वह यहाँ उद्धृत है :—

यह बात पाठकगण से छिपी न होगी कि गत पचीस-तीस वर्षों में हिंदी का जितना विकास हुआ और हो रहा है, उतना शायद ही किसी और भाषा का, इतने अल्प समय के अंतर्गत, हुआ होगा। इन थोड़े ही वर्षों में, अनेक नए और पुराने विषयों पर, भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से, हिंदी की सैकड़ों पुस्तकें निकली हैं। आजकल भी, जब अंतर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी बिगड़ी हुई है और जब संसार की आर्थिक अवस्था इतनी डाँवाँडोल है, प्रत्येक महीने हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न कोने से हिंदी की बीसों पुस्तकें, गद्य और पद्य दोनों में, धड़ाधड़ निकलती जाती हैं। हिंदी की इस सर्वतोमुखी उन्नति ने सबको चकित कर दिया है। उसकी भाव-प्रकाशन-क्षमता, उसके दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ते हुए साहित्य तथा अन्य अहिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में उसके अति शीघ्र प्रचार को देखकर सबने दाँतों तले अँगुली दबाई है। अब अनेक लोगों के मस्तिष्क से "अरे! हिंदी भी कोई भाषा है? वह तो एक छोटी सी प्रादेशिक बोली (dialect) है। हिंदी का क्या अध्ययन हो सकेगा? उसका तो कोई साहित्य ही नहीं है!" इत्यादि हिंदी के प्रति नाना घृणित विचार उतर गए हैं। यहाँ तक कि उसकी कीमत पहचानकर अखिल भारतीय कांग्रेस ने भी, जो भारतवर्ष में जनता का सबसे बड़ा संघटित समुदाय है, उसे हिंदुस्तान की 'राष्ट्रीय भाषा' मान लिया है और उसके प्रचार करने में प्रोत्साहन दे रही है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर कम से कम इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि

हिंदी का भविष्य काफी उज्ज्वल है। हम सब हिंदी-भाषा-प्रेमियों का कर्त्तव्य होगा कि हिंदी की इस उन्नति को जितना आगे बढ़ा सकें, उतना बढ़ाने का प्रयत्न करें।

परंतु हिंदी की इस उन्नति के साथ साथ एक बात—एक महत्त्वपूर्ण बात—हमारे विचार करने के योग्य है। इस बात से यदि अबसे हम सावधान न रहेंगे, तो भविष्य में हमारी बहुत हानि होने की संभावना है। इस पुनरावृत्त 'बात' से लेखक का मतलब है—आधुनिक हिंदी में आवश्यकता से अधिक बाहर के शब्दों का लाना। यद्यपि हिंदी-पाठकों के लिये यह कोई नई बात नहीं है, तो भी यदि इसे पुनः पाठकगण के सामने उपस्थित किया जाए, तो लेखक की समझ में कोई भद्दापन पैदा न होगा। उस 'बृहत्तर-भारत' (स्याम, आधुनिक थाईलैंड) का एक 'भारतीय' होने के नाते और गत पाँच वर्षों से हिंदी के एक विद्यार्थी तथा प्रेमी होने के कारण लेखक समझता है कि हिंदी के संबंध में व्यक्तिगत विचार प्रकट करने का यदि उसे अधिकार न हो, तो अपने हिंदी भाषा-भाषी बुजुर्गों के विचार सुनने का तो उसे अवश्य अधिकार है।

ऊपर कहा गया है कि गत पचीस-तीस वर्षों में हिंदी का बहुत ही शीघ्र विकास हुआ है। जब किसी भाषा का विकास होता है, तो स्वभावतः उसमें आए नए-नए भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उसे नए-नए शब्दों की आवश्यकता होती है। इस तरह की आवश्यकता जो हिंदी को भी हुई और हो रही है, पाठकों से छिपी न होगी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये हिंदी को अन्यान्य भाषाओं से सहायता लेनी पड़ती है। यह तो विदित बात है कि संसार की सभी भाषाओं का परस्पर संबंध तथा कुछ न कुछ लेन-देन होता रहता है। यदि किसी भाषा के पास अपर्याप्त शब्द हों और यदि वह भाषा स्वयं उन अपर्याप्त शब्दों की पूर्ति न कर सके, तो यह जरूरी है कि वह अन्य किसी न किसी बाहर की भाषा से सहायता ले। जो भाषा इस परस्पर लेन-देन के नियम की अवहेलना करती है, उसका विकास कदापि नहीं हो सकता। एक भाषा का दूसरी भाषाओं से आवश्यक शब्दों को अपनाना उपर्युक्त भाषा की लाचारी अथवा गरीबी

का चिह्न नहीं है, बल्कि उसकी पटुता और संपन्नता का सूचक है—उसके जीवित होने का प्रमाण है।

हम हिंदी-भाषा-भाषियों के लिये गौरव की बात है कि हमारी हिंदी इस नियम की अवज्ञा न कर अपने आवश्यक शब्दों की पूर्ति के लिये अन्यान्य भाषाओं से भरपूर सहायता ले रही है। फल-स्वरूप आज हम अपनी भाषा में बहुत से नए-नए शब्द पाते हैं। परंतु परस्पर लेन-देन के इस नियम के पालन करने में हमारी हिंदी ने कदाचित् आवश्यकता से अधिक परायणता दिखाई और दिखा रही है। फलत: आज उसके इस कर्त्तव्य में कुछ त्रुटि आ गई है। एक भाषा के लिये अन्य भाषाओं से आवश्यक शब्दों के ग्रहण करने की शर्त यह होनी चाहिए (अपितु होती है) कि बाहरी शब्द तभी लिए जायँ, जब उस भाषा में उन आवश्यक शब्दों की सृष्टि करने की सामर्थ्य न हो। जब हमें किसी चीज की जरूरत है, तो पहले हम अपने पास या अपने घर में उसे खोजते हैं। (यदि हमारा घर ही न हो—चूँकि कोई पाठक तर्क कर सकते हैं—तो इष्ट मित्र अथवा परिजन तो अवश्य होंगे।) जब बिल्कुल निश्चित हो जाता है कि अमुक चीज की प्राप्ति हमारे घर में हो नहीं सकती, तो उसके लिये हम बाहर जाते हैं। हमारी हिंदी ने अपनी अति-कर्त्तव्य-परायणता के आवेश में आकर इस बात को भुला दिया है। स्वयं अपनी सामर्थ्य से नए शब्द पैदा करने का प्रयत्न तो दूर, जो पुराने और प्रचलित शब्द अपने पास हैं, उन शब्दों की भी जड़ काटकर उनके स्थान में बाहर से नए शब्द लाने की कोशिश वह कर रही और काफी कर भी चुकी है। जब से तथाकथित 'हिंदुस्तानी' की सृष्टि हुई, तब से हिंदी की यह त्रुटि तो और भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। उदाहरण के लिये, क्या कारण है कि हिंदी में स्वभाव से प्रचलित निम्नलिखित शब्दों के स्थान में नए नए शब्द आजकल बलपूर्वक घुसा दिए जा रहे हैं:—

सियासी	(राजनीतिक के स्थान में)	जज़बात्	(भावों के स्थान में)
जम्हूरियत	(प्रजातंत्र ,,)	एहसास	(भान ,,)
ज़ाती	(व्यक्तिगत ,,)	सदारत	(अध्यक्षता ,,)

इत्तिफ़ाक	(एकता के स्थान में)	क़ौमियत	(राष्ट्रीयता के स्थान में)
तक़रीर	(भाषण ,,)	महदूद	(सीमित ,,)
नुमाइंदा	(प्रतिनिधि ,,)	मुश्तरका	(साझे ,,)

इन शब्दों को लिखने का मतलब यह नहीं कि हमें नए शब्दों को अपनी भाषा में लाना ही नहीं चाहिए। लाना तो हमें सर्वप्रकार से चाहिए, चूँकि यह हमारी भाषा के उन्नत होने का चिह्न है, किंतु उनको अपने अंदर लाकर हमें अपने पुराने शब्दों को भूलना नहीं चाहिए—जब तक कि ये पुराने शब्द हमारे प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। शब्दों से भाषा बनती है और भाषा हमारी संस्कृति तथा सभ्यता का आधार है। इसी आधार पर इन दो अनमोल रत्नों का अस्तित्व है। यदि हम इस आधार को कमजोर होने देंगे, तो हमारी संस्कृति तथा सभ्यता किस पर खड़ी हो सकेगी? भविष्य में उनकी क्या दशा होगी? आगे आनेवाली संतानें हमारे बारे में क्या सोचेंगी और कहेंगी? ये ऐसे कुछ प्रश्न हैं, जिनकी उपेक्षा हमें कदापि नहीं करनी चाहिए। इनकी उपेक्षा करने का मतलब है अपनी संस्कृति तथा सभ्यता की जड़ को अपने हाथों से काटना।

अब रह गई हिंदी में आवश्यक शब्दों की सृष्टि की बात। इसमें भी हमारी हिंदी काफी भूल कर चुकी और करती जा रही है। ऊपर कहा गया है कि जब किसी को किसी वस्तु की आवश्यकता होती है, तो पहले वह अपने घर में या अपने आसपास उस वस्तु को खोज लेता है। जब उसे निश्चित हो जाता है कि अमुक आवश्यक वस्तु की प्राप्ति उसके घर में नहीं हो सकती, तो वह उसके लिये बाहर जाता है। हमारी हिंदी ने अपनी शब्द-सृष्टि के कार्य में इस बात पर ध्यान नहीं दिया। बिना अपने घर में खोजे ही वह तुरंत इन आवश्यक वस्तुओं के लिये बाहर दौड़ती है। फलतः आवश्यक वस्तुएँ उसे मिल तो जाती हैं; किंतु ये वस्तुएँ उसके लिये अत्यधिक नई होने के कारण उसके जीवन के अनुकूल नहीं हो पातीं, और हो भी कैसे पातीं—जब कि यह नवीनता उस पर दिन-प्रतिदिन बलात् लादी जा रही है। फल-स्वरूप आज हमारी हिंदी में कृत्रिमता सी आ गई है। यह कृत्रिमता तब तक आती रहेगी, जब तक हम

अपने को इस प्रवृत्ति से नहीं छुड़ायँगे। जब इस कृत्रिमता का घड़ा भर जायगा, तब वह फूटकर हमारी देह को—हमारे सारे गृह को—कलंकित तथा लज्जित कर देगी।

यह तो मानी हुई बात है कि कई भारतीय भाषाओं में से हिंदी भी एक ऐसी भाषा है, जिसकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है, अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहना है कि हिंदी संस्कृत की एक पुत्री है। इस हिंदी रूपी पुत्री की कैसी भी अवस्था क्यों न हो, संस्कृत तो उसकी माता है ही तथा रहेगी ही। आवश्यकता पड़ने पर उसे चाहिए कि वह अपनी माता का सहारा ले; परंतु हिंदी ने ऐसा नहीं किया। उसने तेल को घी समझा और उसी का उपभोग वह कर रही है। फलतः आज जो लाभ घी के उपभोग करने से उसे मिलना चाहिए था, नहीं मिल रहा है, और जिस तेल का उपभोग उसने आवश्यकता से अधिक किया है, वह आज उसके सारे अंग-प्रत्यंग पर बोल रहा है। इस संबंध में हिंदी ने उन भाषाओं से कुछ भी पाठ नहीं सीखा, जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई है—जिन्होंने संस्कृत के मांस से अपना मांस नहीं बनाया, संस्कृत के खून से अपना खून नहीं पाया—परंतु जिन्होंने संस्कृत का कुछ स्वाद चखा है, जो संस्कृत से कुछ शिक्षित तथा प्रभावित हुई हैं। इन भाषाओं से लेखक का मतलब है वे भाषाएँ, जो आजकल भी उस 'बृहत्तर-भारत' में बोली जाती हैं, जहाँ सैकड़ों वर्ष पहले इसी भारतमाता के वीर पुत्रों ने जाकर अपने धर्म तथा संस्कृति की विजय-पताका स्थापित की थी। यद्यपि आजकल यह पताका, अन्य स्थानों के कुहरे-बादलों से आवृत होने के कारण, हम लोगों की आँखों के सामने से कुछ अलक्ष्य हो गई है, तो भी संयमित आकार में यह अपने डंडे पर अब भी शांतिपूर्वक विद्यमान है। 'बृहत्तर-भारत' की इन कई 'भारतीय' भाषाओं में से (बर्मी, स्यामी—Thai, मालेय, जावानीस्, कंबोडियन इत्यादि), उदाहरण के लिये, लेखक केवल एक स्यामी की ही चर्चा करना चाहता है। स्यामी मंगोलियन भाषाओं से निकली है। संस्कृत से उसका कोई मौलिक संबंध नहीं; परंतु गत वर्षों में उस पर संस्कृत का प्रभाव बहुत पड़ गया था। भारतवर्ष से स्याम का धार्मिक तथा सांस्कृतिक संबंध

बहुत ही घनिष्ठ है। स्यामी भाषा के लगभग पैंतीस या चालीस प्रतिशत शब्द संस्कृत से आए हैं। इस संबंध में पाठकगण के सामने लेखक एक अँगरेजी लेख से कुछ उद्धरण उपस्थित करना चाहता है। वे इस प्रकार हैं:—

"The descendants of Hindu settlers in Siam set up a very high civilisation founding great cities like Angkor Wat, the remains of which are still one of the great wonders of the world And the modern Siamese, in reality, were the result of an admixture between the race which came down from China and the people who migrated from Hindustan."

"In the matter of racial characteristics, the Siamese can rightly claim themselves to be Indo-Chinese. *No country is more worthy of that name than Siam, because by blood, by culture and by outlook they are a mixture of the Chinese and the Indians.*"

"In actual life the Samese are found to have a Chinese outlook but their higher culture, expressed in Pali and Sanskrit, were essentially Indian and the religion they followed was Buddhism, a product of India. Their religious literature was written in those ancient languages. The alphabet, containing vowels and consonants, is very much like that of Sanskrit, although written in Siamese characters. The colloquial speech of the Siamese is like that of the Chinese but higher literatures are expressed in Sanskrit and Pali."*

अर्थात्—"स्याम में जाकर बसनेवाले हिंदुओं की संतान ने वहाँ अत्युच्च सभ्यता स्थापित की और अंगकोरवात जैसे महान् नगरों की स्थापना की, जिनके खँडहर तक आज विश्व के महान् आश्चर्य समझे जाते हैं। आधुनिक स्यामवासी यथार्थ में चीन से आए हुए लोगों और हिंदुस्तान से वहाँ जाकर बसे लोगों का सम्मिश्रण हैं।

---

* 'Siam and Her People.' "The Maha-oBdhi," October, 1939.

"अतः जातीय विशिष्टता की दृष्टि से स्यामवासी भली भाँति अपने-आपको हिंदी-चीनी कह सकते हैं। स्याम से बढ़कर इस नाम का अधिकारी और कोई मुल्क नहीं है, क्योंकि स्यामवासी रक्त, संस्कृति और दृष्टिकोण से पूर्णतया भारतीयों और चीनियों का ही सम्मिश्रण हैं।

"व्यावहारिक जीवन में यद्यपि स्यामवासियों का दृष्टिकोण चीनियों का-सा है; किंतु उनके जीवन का सांस्कृतिक उच्च स्तर---जिसका व्यक्तीकरण उनके पाली और सस्कृत के ग्रथों में है—मूलतः भारतीय है। जिस बौद्ध-धर्म के वे अनुयायी हैं, वह भी भारत की ही देन है। उनके धर्मशास्त्र भी भारत की प्राचीन भाषाओं में ही लिखे गए थे। उनकी वर्णमाला संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती है, यद्यपि वह लिखी स्यामी अक्षरों में ही जाती है। स्यामवासियों की बोलचाल की भाषा यद्यपि चीनियों की भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है; पर उनका उच्च साहित्य सारा का सारा संस्कृत और पाली में है।"

आधुनिक स्याम में सब विषयों की बड़े वेग से जागर्ति हो रही है। भारतवासियों के लिये 'स्याम' अपरिचित सा शब्द मालूम पड़ता है। यहाँ के लोग उस देश के बारे में बहुत ही कम ज्ञान रखते हैं (यद्यपि स्याम में लगभग तीन लाख भारतीय हैं) हाल में जब फ्रेंच-इंडो-चाइना के साथ स्याम की राजनीतिक गड़बड़ी हुई है, तब स्याम ने अपने नए नाम 'थाईलैंड' से यहाँ के पत्र पढ़नेवालों के कानों में कुछ खलबली सी की है। अन्यान्य जाग्रतियों के साथ साथ स्यामी भाषा की भी जाग्रति हो रही है। अपने अंदर आए नए-नए भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उसे, हिंदी की तरह, शब्दों की कमी बहुत खटक रही है। परंतु इस कमी की पूर्ति के लिये उसने, हिंदी के विपरीत, अन्य भाषा का आश्रय न लेकर संस्कृत ही की शरण ली और ले रही है। वह जानती है कि संस्कृत से चाहे उसका कोई मौलिक संबंध न हो, तो भी उसके लिये यह सबसे समीप तथा योग्य स्थान है, जहाँ वह आवश्यकता के समय बराबर आश्रय ले सकती है। इस बात का भी उसे पता है कि संस्कृत के पास सहायता का असीम भांडार है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि शरणार्थी उसके पास जाएँ और यथेष्ट शरण लें। उदाहरण के लिये लेखक पाठकों के सामने कुछ ऐसे स्यामी

शब्द उपस्थित करना चाहता है जो संस्कृत से आए हैं और जो आजकल स्याम में प्रचलित हैं। जैसे कि नीचे दिए जा रहे हैं, ये शब्द भिन्न भिन्न विषयों के हैं। इनकी रचना का औचित्य हो या न हो, लेखक बहस नहीं करना चाहता। यहाँ उसका उद्देश्य पाठकों को केवल यह दिखाना है कि स्यामी भाषा अपने नए शब्दों के निर्माण के लिये संस्कृत से सहायता ले रही है—यद्यपि स्यामी, हिंदी की अपेक्षा, संस्कृत से दूर है। उदाहरणार्थ :—

(निम्न-लिखित शब्दों में से जो पाली के हैं, उनके आगे (पा) अक्षर लगा दिया गया है। इनका पद-विन्यास संस्कृत-जैसा है ; किंतु इनका उच्चारण संस्कृत से काफी भिन्न है।)

स्यामी शब्द	अँगरेजी अर्थ	स्यामी उच्चारण
चक्रयान	Bicycle	चक्रयान्
रथयंत्र	Motor-car	रोथ्योन्
आकाशयान	Aeroplane	आकासयान्
विद्युत्	Radio	विथ्यु
दूरलेख	Telegram	थोरलेख्
दूरशब्द	Telephone	थोरसब्द्
भावयंत्र	Cinema	फाफयोन्
धनागार	Bank	थनाखान्
धनपत्र	Currency Note	थनबत्
आगार	Building	आखान्
प्रभागार	Lighthouse	प्रफाखान्
संतिपाल (पा)	Police man	संतिबाल्
रठपाल (पा)	Government	रथबाल्
देशपाल	Municipality	थेसबाल्
रठनियम	State-convention	रथनियोम्
नयोपाय	Policy	नयोबाय
विदेशोपाय	Foreign policy	बिथेसोबाय
संधिसंञा (पा)	Treaty	सोथिसंञा

स्यामी शब्द	अँगरेजी अर्थ	स्यामी उच्चारण
रठमंत्री	Minister	रथमोंत्री
नायक रठमंत्री	Premier	नायोक् रथमोंत्री
रठसभा	State assembly	रथसफा
नीतिर्पंञ्त्ति सभा (पा)	Legislative councilनो	तिबंञत् सफा
परिहार सभा	Executive council	बॅरिहार सफा
रठाधिपति	Sovereign	रथाथिबॅदी
रठ आरक्खा (पा)	Protectorate	रथ आरकखा
अधिपतय	Sovereignty	अथिपतय
इद्धिबल (पा)	Influence	इत्थिफोन्
उपसर्ग	Obstacle	उपसक्
साधारण संपत्ति	Public property	साथारण सोम्बत्
साधारण प्रयोजन	Public interest	साथारण प्रयोज्
प्रजाधिपतय	Democracy	प्रछाथिपतय
एकाधिपतय	Dictatorship	एकाथिपतय
महाजन रठ	Republic	महाछोन् रथ
मूल निधि	Fund	मूल निथि
सेनाधिकार	Military general staff	सेनाथिकान्
अंगरक्ष्क	Aide-de-camp	ओंखरक्ख
राज नावी थाई	Thai Royal navy	राछ नावी थाई
वाणिज्य कर्म	Commerce	फानिछ् कम्
उत्साह कर्म	Industry	उत्साह कम्
हत्थ कर्म (पा)	Mauufacture	हत्थ कम्
हत्थकर	Mannfacturer	हत्थकोन्
कर्मकर	Labourer	कम् कोन्
शिल्प कर्म	Artistic works	सिल्प कम्
वर्ण कर्म	Literary works	वन कम
क्षेत्र कर्म	Agriculture	कसेत् कम्

स्यामी शब्द	अँगरेजी अर्थ	स्यामी उच्चारण
महाविद्यालय	University	महाविध्यालय
संति भाव (पा)	Peace	संति फाफ्
शून्याकाश	Vacuum	सून्याकास्
भ्रातर भाव	Brotherhood	फ्रादोन फाफ्
विद्याशास्त्र	Science	विध्यासास्
अनुमति	Sanction	अनुमत्
सभातुलाकार	Tribunal	सफातुलाकान्
सह भाव	Union	सह् फाफ्
सह बंध	Federation	सह् फन्
समाबंध	Confederation	समाफन्
सिद्धिपत्र	Patent	सित्थिबत्
विग्रह	Analysis	विख्रॅ ह्
अनुग्रह	Favour	अनुख्रॅ ह्
वढनधर्म (वधर्नधर्म)	Culture	वथःनःधम्
मनुष्यधर्म	Humanity	मनुसधम्
वनिज नावी	Marine merchant	फनिछ् नावी
चक्रवर्ती	Emperor	चक्रफद्
शुल्काकर	Customs tariffs	सुल्काकोन्
परिषद्	Company	बॅरिसद्
भारधुर	Enterprise	फारः थुरः
दु:खभय	Distress	थुखफय
क्रिमिविद्या (पा)	Entomology	क्रिमिविध्या
गणितशास्त्र	Mathematics	खणितसास्
चित्तविद्या	Psychology	चित्तविध्या
जातिवंशवर्णा	Ethnography	छात्वँशवणना
जातिवंशविद्या	Ethnology	छात् वँश विध्या
जीवविद्या	Biology	छीवविध्या

स्यामी शब्द	अँगरेजी अर्थ	स्यामी उच्चारण
ताराशास्त्र	Astronomy	दारासास्
दर्शनशास्त्र	Optics	थसनः सास्
धर्मजाति प्रज्ञा	Natural philosophy	धमछात प्रच्छा
प्रज्ञा	Philosophy	प्रच्छा
वृक्षशास्त्र	Botany	फूक्ससास्
बीजगणित	Algebra	फीछखणित्
मानुष्यविद्या	Anthropology	मानुसविध्या
रसायनवेद	Alchemy	रसायनवेद
रेखागणित	Geometry	रेखाखणित्
लेखगणित	Arithmetic	लेखखणित्
सत्त्वशास्त्र	Zoology	सत्त्वसास्
उतु नियमविद्या (पा)	Meteorology	उतु नियमविथ्या

आदि ।

कुछ महत्त्वपूर्ण स्थानों के नाम

अयुध्या, विष्णुलोक, स्वर्गलोक, नगरस्वर्ग, धनपुरी, जलपुरी, वज्रपुरी, कांचनपुरी, सिंहपुरी, नगरजयश्री, नगरश्रीधर्मराज, लवपुरी, इन्द्रपुरी, आदि ।

बहुतों में से ये कुछ ही उदाहरण हैं। इनसे पाठकों को इस बात का कुछ आभास मिल गया होगा कि स्यामी अपनी शब्द-सृष्टि के कार्य में संस्कृत से कितनी सहायता लेती है। "ये शब्द केवल शब्द-कोष में ही प्रचलित हों", ऐसी बात भी नहीं है। स्यामी सरकार ने स्वयं इन शब्दों के निर्माण के लिये एक समिति (Committee) नियुक्त की है, जिसके कुछ सदस्य, प्रसन्नता की बात है कि, इसी पवित्र भारत-जननी के ही सुपुत्र हैं। जब जब नए शब्द इस समिति द्वारा निर्मित किए जाते हैं, तब तब वे सरकारी विज्ञप्ति में प्रकाशित कर दिए जाते हैं। तदनंतर सरकार के सभी कार्यों में इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। और चूँकि सरकार स्वयं इस काम का नेतृत्व करती है, इसलिये प्रजा भी शीघ्र उसका अनुकरण करती है—उसे करना ही पड़ता है। सरकार के हर कार्य में इन शब्दों का

बोलबाला रहता है; अन्य शब्द प्रामाणिक नहीं समझे जाते। स्याम में संस्कृत की प्रतिष्ठा पुराने जमाने से है। जो लोग (वहाँ के) संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे सभ्य, शिक्षित तथा माननीय समझे जाते हैं। प्रायः वहाँ के सभी राजवंशजों तथा राजकर्मचारियों के नाम संस्कृत से बने थे और हैं—जैसे, प्रजाधिपक (भूतपूर्व राजा का नाम), आनंदमहीतल (आधुनिक युवक राजा का नाम), विपुलसंग्राम (आधुनिक प्रधान मंत्री का नाम), प्रतिष्ठमनूधर्म, सिंधुसंग्रामजय, मानवराजसेवी, अभयसंग्राम, सिंहनादयोधारक्ष, कोविद अभयवंश, शक्तिसंग्राम इत्यादि (आजकल के कुछ मंत्रियों के नाम)।

परंतु इन बातों से पाठक यह न समझें कि स्यामी लोग अपनी भाषा के 'सर्वस्व' के लिये संस्कृत पर ही अवलंबित हों। यदि ऐसी बात हो, तो किसी भी भाषा (स्यामी ही नहीं) के लिये यह शुभ लक्षण नहीं है। यह तथाकथित 'दिमागी गुलामी' का चिह्न है—उस भाषा और उस जाति के पतन का सूचक है। स्यामी संस्कृत से केवल उन शब्दों को लेती है जो, उसकी समझ में, उसके जीवन के लिये हितकर हैं, उसके प्रयोजन के लिये उपयोगी हैं और उसकी मर्यादा के लिये आपत्तिजनक नहीं हैं। उसके बहुत से ऐसे भी शब्द हैं, जो संस्कृत से कुछ भी संबंध नहीं रखते; पर जो उसके जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। संक्षेप में यही कहना है कि स्यामी संस्कृत से केवल आवश्यक तथा अनिवार्य सहायता ग्रहण करती है, इससे अधिक नहीं। तो भी उसकी आँखों में संस्कृत सदा ज्ञानी, पूज्या तथा अनुभवी 'दादी' बनी रहती है और रहेगी भी।

यह है आधुनिक स्यामी में संस्कृत का स्थान। क्या हिंदी में उसे इतना भी सम्मान प्राप्त है? क्या सचमुच संस्कृत असामयिक भाषा है? क्या उसका कुछ उपयोग नहीं किया जा सकता? यदि 'किया जा सकता है', तो हमने क्या और कितना किया? यदि 'नहीं', तो क्यों और कैसे?

—कृ।

समीक्षा

मालव का संक्षिप्त राष्ट्रीय इतिहास—ले० पं० सूर्यनारायण व्यास, प्र० मोहन प्रिंटिंग प्रेस, माधवनगर, उज्जैन; पृष्ठ-संख्या ५३; मूल्य ॥) ।

इस पुस्तक में व्यासजी के ४ लेखों का संकलन है। प्रथम लेख के नाम पर ही पुस्तक का नाम रखा गया है। शेष तीन लेख 'वैभवशालिनी उज्जयिनी,' 'गौरवमय गवालियर' और 'विक्रमादित्य' हैं। प्रत्येक लेख विद्वत्ता-पूर्ण है। इनके पढ़ने से पाठकों की जिज्ञासा मालवा का इतिहास जानने के लिये बढ़ेगी। यदि, जैसी प्रकाशक ने आशा दिलाई है, व्यास जी एक मालवा का सर्वांगपूर्ण विस्तृत इतिहास लिखें तो वे इतिहास-प्रेमियों के धन्यवाद के पात्र होंगे।

पुस्तक की छपाई और तय्यारी संतोषजनक है, लेकिन कुछ तिथियाँ अशुद्ध छप गई हैं।

—अवधविहारी पांडेय, एम० ए०।

हाथ की लिखावट—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; हाथ के बने देशी कागज पर छपी, डबल फुल्स्कैप ८ पेजी आकार के ४० पृष्ठ; मूल्य दिया नहीं।

'अहिंदी प्रांतों की जनता को राष्ट्रभाषा की विभिन्न लेखन-शैलियों से परिचित कराने के लिये' इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। इसमें देश के कतिपय सुप्रसिद्ध व्यक्तियों, अधिकांशतः कांग्रेस के नेताओं, के हस्तलेख हैं। शिरोरेखा-विहीन, आड़े-तिरछे, सीधे और पुष्ट कई प्रकार के हस्तलेख हैं जिनसे परिचित होना अहिंदी-भाषा-भाषियों के लिये आवश्यक समझा गया है। पुस्तक लाभदायक है परंतु इसमें एक खटकनेवाली बात है। हिंदी के विद्वानों के हस्ताक्षरों का अभाव है। अगले संस्करण में यदि इस अभाव की पूर्ति कर दी जाय तो पुस्तक अधिक उपादेय होगी। कारण, हिंदी के विद्वानों के हस्तलेख से भी परिचित होना अहिंदी प्रांतवालों के लिये आवश्यक और उपयोगी है।

कहानी-संग्रह भाग १, २, ३—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य क्रमशः ।), ।=) और ।।) ।

इन तीनों संग्रहों में क्रमशः ६, ७ और १२ कहानियाँ हैं जिनमें हिंदी के विख्यात कहानी-लेखकों की उत्कृष्ट कहानियों के अतिरिक्त कुछ गुजराती, मराठी, बँगला आदि से भी अनूदित कहानियाँ हैं। अधिकांश कहानियाँ आधुनिक शैली की, भावपूर्ण और कलात्मक हैं। उनके चयन में व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है। ये संग्रह भारतीय कहानी-साहित्य के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।

राष्ट्रभाषा की पहली, दूसरी और तीसरी पुस्तक—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य क्रमशः ।), ।-) और ।।=) ।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति ने इन पुस्तकों को अपनी परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के लिये तैयार कराकर प्रकाशित किया है। इन परीक्षाओं में अहिंदी भाषा-भाषी ही सम्मिलित होते हैं, इस कारण पाठों के निर्माण में उनकी सुविधा एवं शक्ति का उचित ध्यान रखा गया है। भाषा भी मिली-जुली हिंदी-उर्दू है, जिसमें उर्दू के शब्दों से अहिंदी भाषा-भाषियों को बलात् परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तकों के अंत में, विशेषतः तीसरी पुस्तक के, दिए गए कठिन शब्दों की सूची से यही बात स्पष्ट होती है। फिर भी मिली-जुली भाषा की पुस्तकों में ये अच्छी हैं।

सरल रचना और पत्र-लेखन—लेखक श्री० रामेश्वरदयाल दुबे, एम० ए०, साहित्यरत्न; प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य ।) ।

अपनी राष्ट्रभाषा-प्रवेश परीक्षा के पाठ्यक्रम के लिये इस पुस्तक को रा० प्र० समिति ने तैयार कराया है। आरंभ में निबंध, कहानी, जीवनी आदि लिखने के संबंध में आवश्यक ज्ञातव्य बातें दी हुई हैं। उसके बाद उनके ढाँचे और नमूने हैं। पत्र-लेखन विभाग में भी पहले पत्र के अंगों और उनके संबंध में मुख्य मुख्य बातों का वर्णन है, तत्पश्चात् पत्रों के नमूने। सुंदर लेख एवं पत्र लिखना सिखाने के लिये पुस्तक उपयोगी है।

गुलदस्ता, भाग १, २, ३—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य क्रमशः ।), ।–), ॥) ।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति ने अपनी परीक्षाओं के लिये इन कविता-संग्रहों का निर्माण कराया है। प्रथम भाग में, जो राष्ट्रभाषा-प्रवेश परीक्षा के लिये है, अपेक्षाकृत सरल पद्य हैं। आदि से अंत तक भाषा के विभिन्न नमूने हैं—शुद्ध हिंदी भी है, उर्दू भी और मिली-जुली भाषा भी। विद्यार्थियों में कविता के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने में यह संग्रह सहायक होगा इसमें संदेह नहीं। अंत में दिया हुआ परिशिष्ट भी विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है। दूसरे भाग में अपेक्षाकृत कठिन पद्य हैं। उर्दू पद्यों की संख्या कम है। अंत में कवियों की जीवनी और पद्यों का परिचय भी दिया हुआ है। तीसरे भाग में पद्यों का व्यवस्थित वर्गीकरण हुआ है। आरंभ में 'कवि और उनका काव्य' शीर्षक अध्याय में कवियों के संबंध में संक्षिप्त आलोचनात्मक विवेचन भी है जो उनकी रचनाओं का अधिक मार्मिक अध्ययन करने की रुचि विद्यार्थियों में उत्पन्न करने में सहायता देगा। परीक्षा की दृष्टि से सामान्य जानकारी के लिये भी वह उपयोगी है।

राष्ट्रभाषा की प्रारंभिक बोधिनी—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य =) ।

अहिंदी भाषा-भाषी, नागरी अक्षरों से अपरिचित जनता को देवनागरी लिपि और राष्ट्र-भाषा की शिक्षा देने के लिये समिति ने इसे तैयार कराया है। बच्चों के लिये विशेष उपयोगी होते हुए यह प्रौढ़ों के लिये भी उपयुक्त है। भाषा साधारण बोलचाल की और अहिंदी-भाषियों के लिये बोधगम्य है। यह अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतः सहायक होगी इसमें संदेह नहीं।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की इन सभी पुस्तकों में खटकनेवाली बात केवल इनकी परिवर्तित लिपि है जो हिंदी संसार के सामने अभी विचाराधीन ही है और स्वीकार होती हुई दिखाई नहीं देती।

—रामबहोरी शुक्ल।

——

दुनिया—मासिक; वर्ष १, अंक ७ (जुलाई, '४१); संपादक श्री 'भारतीय'; प्रकाशक शारदा प्रेस, नया कटरा, प्रयाग; डबल क्राउन अठपेजी आकार के ३२ पृष्ठ; मूल्य वार्षिक २), एक प्रति का ≡) ।

इधर जिन नवीन मासिक पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ है उनमें 'दुनिया' सर्वसाधारण का मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन करने का विशेष उद्देश्य लेकर आई है। इस अंक में दो कविताएँ, दो कहानियाँ, हास्यरस का एक तथा स्फुट विषयों के पाँच निबंध, एक ज्योतिष-विषयक धारावाही लेख, कुछ सुभाषित और कुछ विश्ववैचित्र्य संबंधी ज्ञातव्य बातें हैं। कविताएँ दोनों मुक्तक हैं, एक ही लेखक की हैं। 'मानव' के उदात्त चित्रण में कवि-कल्पना का रमणीय विस्तार हुआ है। 'याचना' में कवि की आकांक्षा के अंतर्गत लोकमंगल की भावना का जो सूक्ष्म अवस्थान हुआ है वह काव्य-सौंदर्योपम है। 'कलागत सत्य' कलाकार की कल्पनाप्रसूत सृष्टि के सत्य और साधारण सांसारिक तथ्य का सुंदर विवेचन है। 'हृदय की धड़कन' अमेरिकन लेखक एडगर ऐलेन पो की एक कहानी का स्वतंत्र अनुवाद है। पो अपनी युक्तियुक्त रचना-शैली के लिये १९वीं शती का एक लोकप्रिय कवि, कहानी-लेखक और पत्रकार हो गया है। अनुवाद यद्यपि स्वतंत्र है, तथापि प्रथम अनुच्छेद ही अपने रचना-वैशिष्ट्य से पाठक को आकृष्ट कर लेता है। दूसरी अनूदित आख्यायिका 'माँगसेन का पतन' हैराल्ड फील्डिंग हाल की है जिसमें एक ब्रह्मदेशीय राजपरिवार की सम्मान-रक्षा के प्रश्न की मीमांसा पात्रों के मनोभावों के सुंदर सफल चित्रण के साथ हुई है। शेष सामग्री भी सुंदर और पत्रिका के उद्देश्यों के अनुरूप है। 'दुनिया' सर्व-साधारण में समादृत होगी, ऐसा विश्वास है।

यत्र तत्र कुछ नाम आदि केवल अँगरेजी में दिए हुए हैं। ऐसे स्थल अँगरेजी से अपरिचितों के लिये कष्टप्रद हैं। प्रूफ पर भी और सतर्क दृष्टि अपेक्षित है।

—शं० बा०।

सूचना—स्थानाभाव के कारण समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची अब अगली सूची के साथ अगले अंक में प्रकाशित होगी।—सं०।

विविध

'लक्षोदय या लालचंद'

हिंदी ग्रंथों की खोज के पंद्रहवें त्रैवार्षिक विवरण में छपे हुए 'लक्षोदय या लालचंद' कवि (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४४, पृ० ३७३) के संबंध में श्री अगरचंद नाहटा ने निम्नलिखित सूचनाएँ भेजी हैं :—

१—पद्मिनीचरित्र का रचनाकाल सं० १७०७ है।

२—कवि का नाम लक्षोदय भूल से पढ़ा गया होगा, शुद्ध नाम लब्धोदय है।

३—लीलावती का रचयिता लालचंद उससे भिन्न है। इसी प्रकार राजुल पचीसी आदि के निर्माता भी भिन्न भिन्न हैं।

इन सूचनाओं के लिये नाहटाजी धन्यवाद के भाजन हैं।

१—पद्मिनीचरित्र का समय-सूचक दोहा भी रचनाकाल सं० १७०७ ही बताता जान पड़ता है, १७०२ नहीं, जैसा गलती से विवरण में दिया गया है —

संवत सतरे से बड़ोतरे श्री उदयपूर सु बखाण।
हिंदूपति श्री जगतसिंह जिहौ रे राज करे जगभान ॥

इसमें बड़ोतरे 'बरोतरे' का विकृत रूप जान पड़ता है। 'बरोतरे' के दो अर्थ हो सकते हैं—बारह उत्तर या सात उत्तर क्योंकि वार सात होते हैं। इस प्रकार वह सं० १७१२ या १७०७ होगा। किंतु लब्धोदय के समकालीन उदयपुराधीश जगतसिंह का राज्यकाल सं० १७०९ में समाप्त हो जाता है। इसलिये सं० १७०७ ही रचनाकाल जान पड़ता है। इस संबंध में नाहटाजी अथवा जैन साहित्य के कोई अन्य विद्वान् कुछ अधिक प्रकाश डालें तो बड़ा अच्छा हो; क्योंकि संभव है 'बड़ोतरे' 'बरोतरे' का विकृत रूप न होकर कुछ और ही हो।

२—हस्तलिखित ग्रंथ कभी कभी बड़े विकृत अक्षरों में लिखे मिलते हैं, जिन्हें पढ़ना बड़ा कठिन हो जाता है। इससे गलत पढ़ा जाना बहुत संभव है।

३—इन विभिन्न लालचंदों का कुछ विस्तृत परिचय देने की नाहटाजी कृपा करें तो आगे खोजवालों के लिये सुबीता हो जाय।

—पीतांबरदत्त बड़थ्वाल।

श्री जयचंद्र विद्यालंकार कृत 'इतिहास-प्रवेश'

'कैलकटा रिव्यू' फरवरी १९४१, पृष्ठ १९८-२०१ में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने श्री जयचंद्र विद्यालंकारकृत 'इतिहास-प्रवेश' की अभिनंदनात्मक समीक्षा की है। हम उस समीक्षा के आदि और अंत के विशेष अंशों का अनुवाद यहाँ सहर्ष प्रस्तुत करते हैं:—

भारतीय इतिहास की इस पुस्तक का विषय-विभाजन बहुत सुंदर और लेखन उत्कृष्ट हुआ है, और प्रायः सभी दृष्टियों से मैं समझता हूँ कि इस विषय पर इस नमूने की जितनी कृतियाँ मैंने आज तक पढ़ी हैं उनमें यह सब से अधिक नई से नई सामग्री का उपयोग करनेवाली, सब से अधिक संग्राहक और सब से अधिक संतोषजनक है। जैसी वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी कल्पना हुई है और जिस पूर्णता तथा ईमानदारी के साथ उस कल्पना को मूर्त्त रूप दिया गया है वह संसार के किसी भी कोने के किसी भी विद्वान् की विद्वत्ता तथा अध्यवसाय के लिये गौरव की वस्तु होती। इसके ७५० पृष्ठों में भारतीय जनता के इतिहास और संस्कृति का जैसा प्रशस्त निदर्शन हुआ है उसे पढ़कर विशेषज्ञ और साधारण पाठक दोनों को ही लाभ और आनंद मिलेगा।

× × × × ×

मैं समझता हूँ कि विद्वानों को स्वीकार करना होगा कि श्री विद्यालंकार ने अपने कार्य का बड़ी उत्कृष्टता से निर्वाह किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक हिंदी में लिखी है जो कि भारत की सच्ची राष्ट्रभाषा तथा प्रतिनिधिभूत आधुनिक भाषा है। हिंदी समूचे आर्यभाषाभाषी भारत और दक्षिण भारत के भी काफी बड़े भाग

की वास्तविक सार्वत्रिक बोलचाल तथा चलन की भाषा (Umgangssprache तथा Verkehrsprache) है, यद्यपि अभी तक वह सांस्कृतिक भाषा तथा शास्त्रीय भाषा (Kultursprache तथा Wissenschaftliche Sprache) नहीं हो पाई है। (१) इसकी वैज्ञानिक शब्दावली अभी बन रही है और स्वयं श्री विद्यालंकार को भी अनेक आवश्यक शब्द ढूँढ़ने या गढ़ने पड़े हैं। उपस्थित पुस्तक जैसी कृतियाँ वस्तुतः हिंदी को विज्ञान तथा संस्कृति की भाषा का पद प्राप्त कराने में सहायक हो रही हैं। जितने आधुनिक हिंदी-लेखकों की भाषा मैंने आज तक पढ़ी है उनमें श्री विद्यालंकार की हिंदी उसके श्रेष्ठ नमूनों में से है। वे सुंदर हिंदी गद्य लिखते हैं—चुस्त, सबल, सटीक और फिर भी अलंकृत। इस तरह की पुस्तक का न केवल भारत में अपितु बाहर की दुनिया में भी विस्तृत प्रचार और आदर होना चाहिए।

श्री जयचंद्र विद्यालंकार हिंदी के सम्मानित लेखक हैं। उनका 'इतिहास-प्रवेश' वस्तुतः ऐसे अभिनंदन के योग्य है। यथार्थ भारतीय इतिहास के निर्माण में यह एक उपयोगी देन है। इससे हिंदी का बहुत मानवर्द्धन हुआ है। श्री जयचंद्रजी को इस कृति के ऐसे अभिनंदन पर बधाई देते हुए हम उनसे उत्कृष्टतर कृतियों की आशा रखते हैं।

श्री रवींद्रनाथ ठाकुर स्वर्गत !

हमें यह भी लिखना था। इसी २२ श्रावण को उस विश्ववंदित भारतीय विभूति ने ऐहिक बंधन त्याग दिया। गत १ वैशाख को ही श्री ठाकुर की ८०वीं वर्षगाँठ का समुत्सव था। वे महाकवि, महामनीषी, महर्षि थे। इस भेदभाव-भरे युग में उन्होंने विश्वभाव का सफल दर्शन किया था। उसके पावन संदेश की व्यापक अभिव्यंजना उनकी जीवन-साधना थी। उनकी सत्यशिवसुंदर वाणी ने भारतीय साहित्य को विशेष प्रभावित किया है। हमारा आधुनिक हिंदी-साहित्य उस वाणी का चिरकृतज्ञ रहेगा। अपनी साधना से जिस 'मृत्युहीन प्राण' का श्री ठाकुर 'दान' कर गए हैं वह हमारी संस्कृति तथा साहित्य को उत्तरोत्तर संपुष्ट करता रहे, उनकी पावन स्मृति में हमारी यही आशंसा है। —कृ।

———

सभा की प्रगति

उपसमितियों और विभागाध्यक्षों का चुनाव

प्रबंध समिति के ७ ज्येष्ठ १९९८ के अधिवेशन में निम्नलिखित उपसमितियों और विभागाध्यक्षों का चुनाव हुआ—

(१) पुस्तकालय उपसमिति—संयोजक, अध्यक्ष तथा निरीक्षक पं० श्रीशचंद्र शर्मा।

(२) अर्थ तथा बिक्री उपसमिति–संयोजक तथा अध्यक्ष अर्थ-मंत्री।

(३) साहित्य उपसमिति—संयोजक और अध्यक्ष साहित्य-मंत्री।

यही उपसमिति प्रकाशन, पदक-पुरस्कार तथा लिपि और भाषा संबंधी प्रश्नों पर भी विचार करेगी।

(४) संकेत लिपि उपसमिति—संयोजक तथा अध्यक्ष पं० निष्कामेश्वर मिश्र।

(५) खोज विभाग—अध्यक्ष तथा निरीक्षक पं० विद्याभूषण मिश्र।

(६) प्रसाद-व्याख्यान-माला—संयोजक तथा अध्यक्ष बा० कृष्णदेवप्रसाद गौड़।

आयव्यय की व्यवस्था के लिये यह निश्चय हुआ कि इनके अतिरिक्त प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष श्री साहित्य-मंत्री, कलाभवन के श्री संग्रहाध्यक्ष, भवन-निर्माण के श्री रामभरोसे सेठ, पत्रिका के श्री संपादक, हिंदी-प्रचार के श्री सभापति तथा पदक-पुरस्कार के अध्यक्ष पं० रामनारायण मिश्र रहें।

सभा की अर्धशताब्दी

अर्धशताब्दी की तैयारियाँ हो रही हैं। अर्धशताब्दी की रिपोर्ट लिखने में भी हाथ लगा दिया गया है। यह विचार किया गया है कि रिपोर्ट कुल चार जिल्दों में निकले। प्रथम में गत पचास वर्षों के सभा के

कार्यों और हिंदी की उन्नति का विवरण और तत्संबंधी आवश्यक सूचनाएँ और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ में परिशिष्ट रूप में कलाभवन और आर्य-भाषा पुस्तकालय की सूची तथा खोज में प्राप्त हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण रहे।

सभा का निश्चय है कि अर्धशताब्दी के पहले भारत के राजा-महाराजाओं को सभा का संरक्षक बनाने का प्रयत्न किया जाय और सभा का ऋण भी शीघ्र से शीघ्र चुका दिया जाय। यह सूचना देते हुए बड़ा हर्ष हो रहा है कि सभा के परम हितैषी सभासद सीतामऊ के महाराज-कुमार डाक्टर रघुवीरसिंहजी ने सब प्रकार से इस महोत्सव की तैयारियों में सभा की सहायता करना स्वीकार किया है। प्रत्येक हिंदी-प्रेमी विशेष कर राजा-महाराजाओं और धनी-मानी सज्जनों से प्रार्थना है कि वे श्रीमान् महाराजकुमार की भाँति उत्साहपूर्वक सभा की सहायता करें। महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के पत्र का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"........यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सभा की अर्धशताब्दी की तैयारियाँ अभी से शुरू कर दी गई हैं। इस ऐतिहासिक अवसर में कौन न सम्मिलित होगा? और अब जब कि मेरा सभा के साथ बहुत ही गहरा और अकाट्य संबंध स्थापित हो चुका है, आप लोगों की सहायता करना मेरा कर्तव्य हो जाता है।"

हिंदी-प्रचार

एक रुपए के नए नोटों पर नागरी अक्षरों को स्थान नहीं दिया गया। इस संबंध में सभा ने भारत-सरकार से लिखा-पढ़ी की थी। भारत-सरकार के डिप्टी सेक्रेटरी ने शिमला से भेजे अर्थविभाग के पत्र (सं० डी / सी ८ एफ / ४१ ता० १५ मई १९४१) में लिखा था कि 'एक रुपए के नए नमूने के नोटों पर, जो शीघ्र ही निकाले जायँगे, देवनागरी अक्षरों का प्रयोग करने के लिये प्रबंध कर दिया गया है।' सरकार को धन्यवाद है कि उसने एक रुपए के नए नोटों पर नागरी अक्षरों को स्थान देने की कृपा की है।

काशी म्युनिसिपल बोर्ड के पशुचिकित्सालय के साइन बोर्ड पर अँगरेजी और उर्दू में नाम लिखे होने पर भी हिंदी के लिये उसपर स्थान नहीं था। सभा ने स्वास्थ्य विभाग के अधिकारी तथा म्युनिसिपल बोर्ड से लिखा-पढ़ी की। पहले तो बोर्ड की ओर से कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला; पर संतोष की बात है कि अंत में लिखा-पढ़ी करने पर उक्त साइन बोर्ड में हिंदी को स्थान मिल गया।

बिहार में हिंदुस्तानी का बखेड़ा फिर खड़ा हो गया है और नए रूप में। खेद है कि बिहार प्रादेशिक सम्मेलन ने भी हिंदुस्तानी कमेटी के लिये छात्रों की एक पाठ्य पुस्तक संग्रह कर हिंदुस्तानी की हिमायत की है। प्रांत के हिंदी-प्रेमी उसका घोर विरोध कर रहे हैं। सभा ने भी इस संबंध में अपना वक्तव्य भेजा था।

सभा के सभापति रायबहादुर पं० कमलाकर दुबे ने मुजफ्फरपुर, भागलपुर आदि जिलों की यात्रा की थी। वहाँ उन्होंने सभाएँ कीं और भाषणों द्वारा लोगों को उत्साहित किया। उन्होंने वहाँ कई स्थायी सभासद भी बनाए। मुजफ्फरपुर के सुहृद्-संघ ने उनका बड़ा सुंदर स्वागत किया और हिंदी-प्रचार तथा हिंदुस्तानी के विरोध में बड़ा उत्साह दिखलाया।

गत ३०-३१ जुलाई को अबोहर साहित्य-सदन ने तुलसी-जयंती के अवसर पर हिंदी-सम्मेलन भी किया था। तुलसी-जयंती के सभापति सभा के परम हितैषी पं० राधेश्यामजी कथावाचस्पति तथा हिंदी-सम्मेलन के सभापति पं० रामनारायण मिश्र (सभा के उपसभापति) थे। इन सज्जनों ने वहाँ हिंदी-प्रचार के विषय में प्रभावशाली भाषण दिए। इस अवसर पर पं० चंद्रबली पांडे ने भी अबोहर में हिंदी का प्रचार किया।

अनुशीलन विभाग

सभा ने प्रबंधसमिति के गत २९ आषाढ़ १९९८ के अधिवेशन में निश्चय किया कि सभा में श्री राय कृष्णदास की अध्यक्षता में एक अनुशीलन-विभाग खोला जाय और उसमें विद्वानों को अध्ययन करने के लिये पूर्ण सुविधा दी जाय। इस विभाग में विमर्श के लिये पुस्तकालय के हस्तलिखित

विभाग की समस्त पुस्तकें तथा अँगरेजी और अन्य भाषाओं के आकर ग्रंथ भी रखे जायँगे।

भारत-कलाभवन तथा आर्यभाषा-पुस्तकालय

सभा कलाभवन के मूर्तिमंदिर की छत पर एक बड़ा कमरा राजघाट से प्राप्त वस्तुओं के संग्रह के लिये बनवा रही है जो शीघ्र ही बनकर तैयार हो जायगा।

गत वर्ष राजघाट की खोदाई में गहड़वार महाराज गोविंदचंद्रदेव का कार्तिक पूर्णिमा संवत् ११९७ का, बड़े आकार के दो पत्रों का, एक ताम्र-शासन प्राप्त हुआ था, जो परीक्षा के लिये सरकारी पुरातत्त्व विभाग में दिल्ली चला गया था। अब भारतीय पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष ने अपने विशेष प्रतिनिधि द्वारा उसे भारत-कलाभवन में भेज देने की कृपा की है।

पुस्तकालय की वार्षिक जाँच श्रीयुत रामस्वरूप एम० ए०, बी० टी० द्वारा की गई। उन्होंने कृपा कर छपने के पूर्व पुस्तकालय की सूची की भी जाँच करना स्वीकार किया है।

इस वर्ष गर्मी की छुट्टियों में काशी हिंदू विश्वविद्यालय की ओर से पुस्तकाध्यक्ष के कार्य की शिक्षा देने का प्रबंध किया गया था। सभा ने अपने पुस्तकाध्यक्ष पं० शंभुनारायण चौबे बी० ए०, एल्-एल० बी० को अपने व्यय से वहाँ शिक्षा के लिये भेजा था और अब वे शिक्षा समाप्त कर पुनः सभा में पुस्तकाध्यक्ष का कार्य कर रहे हैं।

प्रकाशन

संक्षिप्त शब्दसागर का वर्तमान संस्करण समाप्त हो गया है। उसके संशोधन का कार्य समाप्त होने में अभी विलंब है अतः उसका प्रतिमुद्रण हो रहा है। कागज का मूल्य बहुत बढ़ जाने के कारण उसके आकार में इस बार परिवर्त्तन कर दिया गया है। सूरसागर की आठवीं संख्या का छपना आरंभ हो गया है। श्री सतीशचंद्र काला लिखित मोहें जो दड़ो तथा श्री राय कृष्णदास और पं० पद्मनारायण आचार्य संपादित "नई

कहानियाँ" प्रकाशित हो गई हैं। तुलसीग्रंथावली का फिर से संपादन करने के लिये निम्नलिखित सज्जनों का एक संपादक-मंडल बना दिया गया है—

पं० केशवप्रसाद मिश्र	बाबू भगवानदास हालना
पं० लक्ष्मीप्रसाद पांडेय	पं० पद्मनारायण आचार्य
पं० शंभुनारायण चौबे	पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा

स्थायी कोश

१३०००) के स्टाक सर्टिफिकेट ट्रेजरर चैरिटेबल एंडाउमेंट्स, युक्तप्रांत के पास
२०००) ,, ,, ,, सभा में
६५५।=) जमा बनारस बंक में
६२४-)४ पोस्ट आफिस सेविंग बंक में
५२॥।≡)२ इलाहाबाद बंक में
१६३३२।=)॥

हिंदी (मासिक पत्रिका)

सभा के तत्त्वावधान में जो 'हिंदी' नाम की मासिक पत्रिका निकलती है उसका वार्षिक मूल्य प्रचार की दृष्टि से केवल ॥) रखा गया है। फिर भी खेद है कि अभी तक उसके केवल १८५७ ग्राहक बने हैं। हिंदी-प्रेमियों से अनुरोध है कि वे अधिक से अधिक संख्या में इस पत्रिका के ग्राहक बनें और बनाएँ जिससे हिंदी का संदेश शीघ्र से शीघ्र देश के कोने-कोने और घर-घर में पहुँच सके।

१ ज्येष्ठ से ३१ श्रावण १९९८ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
२६ ज्येष्ठ ९८	श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला, कलकत्ता	५००)	२५०) नागरी-प्रचार १००) स्थायी कोष १००) पुस्तकालय ५०) कलाभवन
२६ ज्येष्ठ "	श्री कृष्णकुमार बिड़ला, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष
" " "	" "	१००)	पुस्तकालय
९ आषाढ़ "	श्री ऑनरेब्ल राजा युवराजदत्त सिंह साहब, एम० सी० एस० ऑव् ओयल ऐंड कैमरा इस्टेट जि० खीरी (अवध)	१००)	स्थायी कोष
१० आषाढ़ "	श्री प्यारेलाल गर्ग—गोरखपुर	१००)	डा० महेंदुलालगर्ग वि० मं०
२३ आषाढ़ "	श्री रायबहादुर बाबू सूर्यप्रसाद, एडवोकेट, काशी	१००)	स्थायी कोष
२४ "	श्री बाबू जगन्नाथप्रसाद, एम० ए०, एल्-एल० बी०, देवरिया, गोरखपुर	१००)	"
२८ "	श्री हरिश्चंद्र, आई० सी० एस०, लखनऊ	१००)	"
३२ " } ३ श्रावण"	स्वर्गीय श्री पं० जगन्नाथप्रसाद पँचभैया, काशी	१५०)	कलाभवन
३२ आषाढ़ "	श्री सेठ रामेश्वरलाल गनेरीवाला कलकत्ता	५०)	"

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
३२ आषाढ़ ९८	श्री आयुर्वेदाचार्य पं० जगन्नाथ शर्मा वाजपेयी, एम० ए०, काशी	१००)	स्थायी कोष
२ श्रावण "	श्री प्राणाचार्य कविराज प्रताप सिंह, काशी	१००)	"
२ "	श्री सेठ जुगुलकिशोर बिड़ला कलकत्ता	१००)	"
" "	"	४००)	अर्द्धशताब्दी प्रकाशन
५ "	श्री भगवतीप्रसाद सिंह, एम० ए०, जौनपुर	१००)	स्थायी कोष
५ "	श्री सुंदरीप्रसाद रईस, जौनपुर	१००)	"
८ "	श्रीमान् रायबहादुर राजा ब्रजनारायणसिंह, पड़रौना राज्य, गोरखपुर	१००) ४००)	स्थायीकोष अर्द्धशताब्दी प्रकाशन
९ "	श्री महाराजकुमार शंकरीप्रसादसिंह देव, पंचकोट, मानभूम	१००)	स्थायी कोष
१० "	म्युनिसिपल बोर्ड, बनारस	२००)	कलाभवन
२३ "	श्रीमंत्री, साहित्यसदन, अबोहर (पंजाब)	५१)	नागरीप्रचार

टि०—जिन सज्जनों के चंदे किस्त से आते हैं, उनके नाम पूरी रकम प्राप्त हो जाने पर प्रकाशित किए जायँगे।

———

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की अर्द्धशताब्दी

उक्त सभा की अर्द्धशताब्दी संवत् २००० वि० में मनाई जायगी। अर्द्धशताब्दी-उत्सव के अवसर पर सभा की जो विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की जायगी उसकी वर्तमान रूप-रेखा तैयार कर ली गई है। सभा के सभासदों और अन्य हिंदी-प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे इस पर अपनी सम्मति सभा के पास भेजें, जिससे रिपोर्ट को सर्वांगपूर्ण बनाने में सभा को सहायता मिले और अर्द्धशताब्दी उत्सव भी सफलतापूर्वक संपन्न हो।

समर्थ हिंदी-प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे अर्द्धशताब्दी संबंधी प्रकाशन के लिये सभा को कम से कम ५०० रु० की सहायता दें और धन के साथ अपना चित्र भी भेजने की कृपा करें। कम से कम ५०० रु० देनेवाले सज्जनों के चित्र अर्द्धशताब्दी रिपोर्ट में प्रकाशित किए जायँगे।

रिपोर्ट की रूपरेखा

१—अर्द्धशताब्दी की रिपोर्ट एक आकार की चार जिल्दों में होगी।

२—दूसरी, तीसरी और चौथी जिल्दों में क्रमशः हस्तलिखित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पुस्तकालय की सूची और कलाभवन की पूरी सूची रहेगी।

३—पहली जिल्द में आवश्यक परिशिष्टों सहित—

(क) सभा का ५० वर्षों का कार्य-विवरण रहेगा।

(ख) सभा के जन्म के पूर्व की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए ५० वर्षों की हिंदी की प्रगति का वर्णन होगा और भिन्न भिन्न प्रांतों में, विशेष कर अहिंदी प्रांतों में, हिंदी-प्रचार और साहित्योन्नति का विशेष रूप से उल्लेख होगा। साहित्य की उन्नति में विशिष्ट कवियों और अन्य सुलेखकों के संक्षिप्त वर्णन के साथ यह भी दिखलाया जायगा कि हिंदी-साहित्य के काव्य (ग्रामगीत भी), नाटक, उपन्यास आदि भिन्न भिन्न अंगों तथा इतिहास, विज्ञान आदि अनेक विषयों की कैसी प्रगति रही तथा उन पर कौन सी मुख्य मुख्य पुस्तकें और पत्रिकाएँ निकलीं। हिंदी की प्रगति में विघ्न-बाधाओं और उनके निराकरण के जो प्रयत्न हुए उनका भी वर्णन होगा।

(ग) निम्नलिखित व्यक्तियों के चित्र भी रहेंगे—

१. कालक्रम से सभा के संरक्षकों, संस्थापकों, सभापतियों, उपसभापतियों, अवैतनिक और वैतनिक मंत्रियों तथा पत्रिका के संपादकों के साथ में उनका संक्षिप्त जीवन-परिचय, उनका साहित्यिक कार्य तथा उनके द्वारा सभा की विशेष सेवाओं का भी उल्लेख रहेगा।

२. सभाभवन का चित्र।

३. अर्द्धशताब्दी के आयोजन के लिये जो सज्जन ५०० रु० या अधिक सहायता देंगे उनके चित्र।

४. पदक और पुरस्कार-दाताओं तथा अन्य विशिष्ट दाताओं के चित्र।

(घ) पहली जिल्द के परिशिष्टों में निम्नलिखित बातें होंगी,

१. १०० रु० या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नाम-सूची।

२. सभा के समस्त प्राप्य और अप्राप्य प्रकाशनों की कालक्रम और मालाक्रम से सूची।

३. कालक्रम से सभा के विशेष कार्यों और घटनाओं की सूची।

४. प्रांतक्रम से हिंदी संस्थाओं की सूची।

५. कालक्रम से सभा के पहले वर्ष और पचासवें वर्ष के सभासदों की सूची।

६. निधियों की सूची।

७. ५० वर्षों का सभा का आयव्यय।

(ङ) इस रिपोर्ट में समालोचना न की जायगी।

४—कवियों और लेखकों का विवरण प्राप्त करने के लिये प्रांतवार लेखकों से पत्रव्यवहार किया जाय।

सभा का यह भी विचार है कि अर्द्धशताब्दी उत्सव के अवसर पर महाराज विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दी मनाई जाय और नागरीप्रचारिणी पत्रिका के उस अवसर पर प्रकाशित होनेवाले अंक में द्विसहस्राब्दी के महत्त्व तथा महाराज विक्रमादित्य के संबंध में शोधपूर्वक लिखे गए विद्वत्तापूर्ण लेख निकाले जायँ। विशाल भारतीय राष्ट्र के लिये यह अपूर्व महोत्सव होगा। इसलिये आशा है, इसमें देश के समस्त विद्वानों और श्रीमानों का सहयोग प्राप्त होगा।

प्रधान मंत्री

नई कहानियाँ

(संपादक—श्री राय कृष्णदास और श्री पद्मनारायण आचार्य, एम० ए०)

मनोरंजन पुस्तक-माला की यह ५४ वीं पुस्तक अभी छपकर तैयार हुई है। इधर के नए कहानी-लेखकों में से कुछ ने बहुत ही सुंदर कहानियाँ लिखी हैं। ऐसी ही एकदम नई कहानियों का यह सरस संग्रह हिंदी-प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। पृष्ठ-संख्या १७६, मूल्य १।)

तर्कशास्त्र भाग १

(लेखक—श्री गुलाबराय, एम० ए०, एल्-एल० बी०)

यह पुस्तक तीन भागों में मनोरंजन पुस्तक-माला में पहले ही प्रकाशित हो चुकी है। पहला भाग समाप्त हो जाने के कारण फिर से छापा गया है। पृष्ठ-संख्या २१४, मूल्य १।)

नई पुस्तकें जो छप रही हैं—

१—तर्कशास्त्र भाग २।

२—राजरूपक (डिंगल भाषा का उत्कृष्ट काव्य, संपादक पं० रामकर्ण जी, जोधपुर)।

मँगाने का पता—

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सभा की नई प्रकाशित पुस्तकें

भारतीय मूर्तिकला

(लेखक—श्री राय कृष्णदास)

इस पुस्तक में मोहें जो दड़ो के समय से लेकर आज तक की भारतीय मूर्तिकला का वर्णन बड़ी सरल भाषा में किया गया है। साथ ही इस कला के सौंदर्य की विशेषताएँ एवं तात्त्विक व्याख्या भी दी गई है। अपने ढंग की हिंदी ही में नहीं समस्त भारतीय भाषाओं में यह पहली पुस्तक है। पृष्ठ-संख्या २३९ + १३, ३९ चित्र तथा मैटर के साथ अनेक रेखा-आकृतियाँ। मूल्य १),

यह ... ने देश की
महान् ... एवं उसके
मर्म को ... अपने गंभीर
अध्ययन ... इतिहास-
विषयक ... र तथा
प्रकाश ... भारतीय
भाषा ... था २७
(सा ... मूल्य १),
विशि ...

... ज्ञान का
ज्ञान ... -पीटकर
बाल ... गया।
अब ... छोड़ने के
सद ... उन्हीं
प्रवृ ... सकते हैं।
बा ... भाषाओं की
प्रवृ ... मूल्य १)